

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता
सिद्धान्त-कौमुदी
[कारकप्रकरणम्]

सम्पादक :
डॉ० श्रीनिवास शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी०



साहित्य अकादमी

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५० ००२

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

सिद्धान्त-कौमुदी

[कारकप्रकरणम्]

सम्पादक :

डा० श्रीनिवास शास्त्री

एम० ए०, पी-एच० डी०.



साहित्य अकादमी

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५० ००२

प्रकाशक :

रतिराम शास्त्री

अध्यक्ष :

साहित्य भण्डार,

सुभाष बाजार, मेरठ-२

दूरभाष : ५१८७५४

© प्रकाशकाधीन

मूल्य : १०.०० रुपये

मुद्रक ।

ब्रह्मा प्रिंटिंग प्रेस,

मेरठ ।

हमारे अन्य उपयोगी प्रकाशन

❖ वैदिक साहित्य का इतिहास
डा० कर्णसिंह

❖ ऋक्-सूक्त-संग्रह
डा० हरिदत्त शास्त्री

❖ भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास
डा० श्रीकान्त पाण्डेय

❖ संस्कृत साहित्य का आलो-
चनात्मक इतिहास
डा० श्रीकान्त पाण्डेय

❖ संस्कृत-निबन्ध-पारिजातम्
डा० गणेशदत्त शर्मा

❖ संस्कृत निबन्ध माला I
प्रो० सी० मिश्रा

❖ दशरूपकम् (प्रश्नोत्तर रूप में)
चुन्नीलाल शुक्ल

❖ संस्कृत साहित्य का इतिहास
(प्रश्नोत्तर रूप में)

डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

❖ भारतीय-दर्शन-प्रकाश
(प्रश्नोत्तर रूप में)

सांख्यकारिका (प्रश्नोत्तर)

तर्कभाषा

वेदान्तसार

राघवेश्याम शर्मा

❖ काव्यप्रकाश (प्रश्नोत्तर रूप में)
आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल

❖ गद्यकार बाण (प्रश्नोत्तर रूप में)
आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल

❖ उत्तररामचरित (प्रश्नोत्तर)
आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल

❖ निरुक्त (प्रश्नोत्तर रूप में)
आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल

❖ वैदिक साहित्य का इतिहास
डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

विषय-प्रवेश

१. संस्कृत भाषा तथा व्याकरण—

संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिये व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है, यह सर्वविदित ही है। अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा में व्याकरण को अधिक महत्त्व भी दिया गया है। इसी हेतु संस्कृत में विविध पद्धतियों में अनेक व्याकरण-ग्रन्थों की रचना हुई थी। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण ऐन्द्र-व्याकरण था। डाक्टर बर्नेल ने भी इस मत की पुष्टि की है।^१ इसके अतिरिक्त पाणिनि से पूर्व आपिशलि काशकृत्स्न, शाकल्य तथा शाकटायन आदि आचार्यों के भी व्याकरण थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इन आचार्यों का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। पाणिनि-व्याकरण का उदय होने पर उस समय तक के प्रायः सभी व्याकरणों की स्मृति-मात्र शेष रह गई। आगे चलकर पाणिनि-व्याकरण का व्यापक साम्राज्य होने पर भी कुछ नवीन व्याकरण पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। वे पाणिनि-व्याकरण की जटिलता तथा विस्तार के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र थीं। उनमें शर्ववर्मा का ऐन्द्र-व्याकरण के आधार पर रचा हुआ 'कातन्त्रव्याकरण' (प्रथम शताब्दी) तथा बौद्धपण्डित चन्द्रगोमी का 'चान्द्रव्याकरण' (४८० ई०) प्राचीन हैं। इनके पश्चात्, जैनव्याकरण का समय है किन्तु इन व्याकरणों का पठन-पाठन में विशेष स्थान न रहा। मध्ययुग (१२, १३वीं शताब्दी) की केवल दो व्याकरण पद्धतियाँ ही ऐसी हैं जिन्होंने पाणिनि व्याकरण के संशोधन का प्रयास किया, इसे अत्यन्त सरल और संक्षिप्त करने में कोई प्रयत्न उठा न रक्खा। उनमें से एक 'सारस्वत व्याकरण' है जिसमें ७०० सूत्र हैं और दूसरा बोपदेव का 'मुग्धबोध व्याकरण' है जिसमें १२०० सूत्र हैं। सारस्वत व्याकरण की सारस्वत-चन्द्रिका टीका विशेष महत्त्व की है। इन दोनों पद्धतियों का प्रचलन बहुत से प्रदेशों में रहा और अब भी जहाँ-तहाँ इनका पठन-पाठन प्रचलित है।

२. पाणिनि व्याकरण का सामान्य परिचय—

संस्कृत व्याकरण की समस्त पद्धतियों में पाणिनि व्याकरण का सर्वोपरि स्थान है। विकास क्रम की दृष्टि से इसके तीन युग माने जा सकते हैं—

(१) प्रथम युग—(लगभग ५०० ई० पू० से ईसा की प्रथम शताब्दी तक) मौलिक रचना तथा विवेचन का समय।

(२) द्वितीय युग—(१३०० ई० तक) टीकाओं का समय।

१. बाबूराम सक्सेना, प्राक्कथन, संस्कृत व्याकरण-प्रवेशिका।

(३) तृतीय युग—(१३०० ई० से आगे) प्रक्रिया तथा शास्त्रार्थ का समय ।

प्रथम युग पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का समय है । इन तीनों के द्वारा ही पाणिनि व्याकरण का ढाँचा तैयार हुआ था । इन तीनों को ही व्याकरण शास्त्र में 'मुनित्रय' कहा जाता है ।

प्रथम युग मुनित्रय

आचार्य पाणिनि (५०० ई० पू० तथा ३५० ई० पू० के मध्य)—पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों का मतभेद है । वेबर तथा मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि का समय ३५० ई० पू० है । डा० गोल्डस्टुकर तथा भण्डारकर ने उनका समय ५०० ई० पू० माना है । पं० सत्वव्रत सामश्रमी ने २४०० ई० पू० बतलाया है तो पं० युधिष्ठिर मीमांसक २८०० वि० पू० बतलाते हैं । सभी विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिये युक्ति तथा प्रमाण प्रस्तुत किये हैं । फिर भी यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि पाणिनि का समय क्या है ।

त्रिकाण्डशेष कोश में पाणिनि के ६ नामों का उल्लेख किया गया है ? पाणिनि पाणिन, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय तथा आहिक । इनमें से पाणिनि नाम ही अधिक प्रसिद्ध है । दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः) तथा शालातुरीय शब्दों का भी प्रयोग मिलता है । दाक्षीपुत्र, शब्द से विदित होता है कि उनकी माता का नाम दाक्षी था । शालातुरीय शब्द से पता चलता है कि पाणिनि या उनके पूर्वज शालातुर नामक ग्राम के रहने वाले थे । विद्वानों का कथन है कि पश्चिमी पञ्जाब के अटक जिले में विद्यमान 'लाहुर' नामक ग्राम ही प्राचीनकाल में शालातुर कहलाता था । पाणिनि के जीवन-वृत्त के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है । पञ्चतन्त्र के एक श्लोक के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि उनकी मृत्यु सिंह के द्वारा हुई थी । परम्परा के आधार पर यह भी माना जाता है कि उनकी निधन तिथि त्रयोदशी है ।

पाणिनि की प्रतिभा अनूठी थी । वे संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे । वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा पर उनका अनुपम अधिकार था । वे तात्कालिक भूगोल तथा इतिहास आदि के भी पण्डित थे । मुनियों तथा विद्वानों ने उनके प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त किया है । महाभाष्यकार का कथन है कि उनके सूत्रों में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं । काशिकाकार कहते हैं कि सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है—सूक्ष्मेक्षिका सूत्रकारस्य ।

पाणिनि की रचनाओं में अष्टाध्यायी या पाणिनीयाष्टक का प्रमुख स्थान है । यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा का अनुपम रत्न है । विश्व की किसी भाषा में इसके जोड़ का व्याकरण नहीं बना । इसमें आठ अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय का विभाजन चार-चार पादों में किया गया है तथा समस्त ग्रन्थ में ३६६५ सूत्र हैं । पाणिनि ने इस लघुकाय ग्रन्थ में संस्कृत जैसी विस्तृत भाषा का पूर्णतया विश्लेषण करने का प्रयास किया है । उनकी विवेचना वैज्ञानिक है, शैली संक्षिप्त, सांकेतिक तथा संयत है । इस

ग्रन्थ का क्रम भी अनुठा है। प्रथम अध्याय में विशेष रूप से संज्ञा और परिभाषा प्रकरण हैं। द्वितीय अध्याय में समास तथा विभक्तिप्रकरण, तृतीय में कृदन्तप्रकरण, चतुर्थ तथा पञ्चम में स्त्रीप्रत्यय और तद्धितप्रकरण हैं। षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में सन्धि, आदेश तथा स्वरप्रक्रिया आदि के विविध प्रकरण हैं। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ तथा गणपाठ भी आचार्य पाणिनि की कृतियाँ हैं। यास्काचार्य ने पाणिनि से पूर्व सभी शब्दों को धातुज मानकर उनके निर्वचन का जो प्रयास किया था, उसी मत का अनुसरण करते हुए पाणिनि ने लगभग २००० मूल शब्दांशों (Verbal root) की उद्भावना की थी जो धातु कहलाती हैं। धातुपाठ में इन्हीं का संग्रह है जिन्हें भ्वादिगण आदि १० गणों में विभक्त किया गया है। संक्षिप्त सूत्रों से काम चलाने के लिए गणपाठ की रचना की गई है। जब अनेक शब्दों के विषय में एक ही बात, संज्ञा, प्रत्यय विधान आदि कहनी हुई तो एक गण या समूह गणपाठ में दे दिया गया तथा गण के प्रथम शब्द से 'आदि' जोड़कर सूत्र बना दिया, जैसे—सर्वादीनि सर्वनामानि १/१/२७, यहाँ 'सर्व' से लेकर 'किम्' तक सर्वादिगण प्रस्तुत किया गया है। (देखिये गणपाठ)

उणादिसूत्र को भी पाणिनिकृत बतलाया जाता है। वस्तुतः यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् ३/३/१' सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा तथा लिङ्गानुशासन नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनि की रचना मानना विवादास्पद ही है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने पाताल-विजय या जाम्बवती-विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

वस्तुतः भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन द्वारा संस्कृत भाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों की समीक्षा करके एक ऐसे व्यवस्थित व्याकरण की रचना की है जिसमें संस्कृत भाषा के टकसाली रूप का विश्लेषण किया गया है। पाणिनि ने व्याकरण के सर्वसम्मत नियमों के साथ-साथ पूर्ववर्ती वैयाकरणों के विशिष्ट मतों का भी उल्लेख किया है जैसे 'लोपः शाकल्यस्य ८/३/१६, अवङ् स्फोटायनस्य ६/१/१२३' इत्यादि। पाणिनि-व्याकरण संस्कृत भाषा की अमूल्य निधि है। इस विचित्र रचना का उदय होने पर प्राचीन व्याकरण लुप्तप्राय हो गये। कोई उत्तरवर्ती व्याकरण भी पाणिनि व्याकरण के समक्ष ठहर न सका।

कात्यायन (५०० ई० पू० से ३०० ई० पू० के मध्य)

कात्यायन मुनि व्याकरण शास्त्र में वाक्तिकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें वररुचि नाम से भी जाना जाता है। उनके समय का निर्धारण भी विद्वानों की चर्चा का विषय रहा है। प्रायः आधुनिक विद्वानों ने उनका समय ५०० ई० पू० तथा ३०० ई० पू० के मध्य माना है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि उनका समय

विक्रम पूर्व २७०० वर्ष है। एक वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं। 'प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः'। इस कथन से यह अनुमान किया जाता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे।

कात्यायन का भाषाविषयक ज्ञान अगाध था। उनकी दृष्टि एक समीक्षक की दृष्टि थी। उन्होंने पाणिनि के सूत्रों की सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करके उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया है तथा अष्टाध्यायी के लगभग १५०० सूत्रों पर लगभग ४००० वार्तिक लिखे हैं। इस आलोचना में कहीं दृष्टि-भेद मात्र है, कहीं केवल प्रौढिवाद है और कहीं भूल भी सम्भव है, जिसकी ओर महाभाष्य पतञ्जलि ने संकेत भी किया है। उदाहरणार्थ, वार्तिककार ने 'ऋलृक्' प्रत्याहार सूत्र में लृकार (लृवर्ण) का रखना अनावश्यक बतलाया है—लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान किया है; किन्तु महाभाष्यकार ने वार्तिककार की युक्तियों की समीक्षा करके यह निर्णय किया है कि लृकार का प्रत्याख्यान अनेक प्रकार की कल्पना करके ही किया जा सकता है। फलतः महाभाष्यकार ने वार्तिककार का उपहास करते हुए उनकी भूल की ओर संकेत किया है।

पाणिनि-व्याकरण के विकास और परिष्कार में कात्यायन का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण को अधिक तथ्यानुकूल एवं समयानुकूल बनाने का प्रयास किया है तथा इसकी अपूर्णता को दूर किया है। वार्तिककार के वचनों में भाषा के विकास की झलक देखी जा सकती है। उनकी आलोचना में अनुसन्धान की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वार्तिककार की इस प्रवृत्ति में किसी दुर्भावना की खोज करना उचित नहीं प्रतीत होता। डा० वेलवल्कर का यह मन्तव्य नितान्त सत्य है कि 'कात्यायन के वार्तिकों का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रों में संशोधन और परिवर्धन है।'

पतञ्जलि (२०० ई० पू० तथा प्रथम ई० शती के मध्य)

पतञ्जलि ने महाभाष्य नामक ग्रन्थ की रचना की है अतः वे महाभाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डा० वेलवल्कर ने उनका समय १५० ई० पू० माना जाता है। इस मत का आधार यह है—महाभाष्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' (यहाँ पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को यज्ञ कराया था। फलतः वे पुष्यमित्र के समकालीन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय १५० ई० पू० माना है। अतः पतञ्जलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि की गई है। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय १२०० ई० पू० के लगभग होना चाहिये। इसलिये पतञ्जलि का समय भी वही होगा।

पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अतः कहीं-कहीं उनके लिये फणिभृत्, अहिपति इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपने मत प्रकट करते हुए 'गोनर्दीय' शब्द का प्रयोग किया है—'गोनर्दीयस्त्वाह'। इससे विदित होता है वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। व्याख्याकारों का अनुमान है कि जहाँ गाय-बैल अधिक हृष्ट-पुष्ट होते हैं अतः विशेष रूप से नाद करते हैं (आधुनिक पञ्जाब तथा हरयाणा आदि) सम्भवतः यही प्रदेश पतञ्जलि का निवास स्थान रहा होगा।

पतञ्जलि ने पाणिनि के मुख्य-मुख्य सूत्रों तथा कात्ययन के वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ लाघव एवं तथ्य-निरूपण की दृष्टि ही रही है। पतञ्जलि के मतानुसार जिस भगवान् पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, भला उसके दोष-दर्शन का दुस्साहस कैसे किया जा सकता है? वार्त्तिककार के वार्त्तिकों की भी महाभाष्यकार ने व्याख्या की है उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है। साथ ही सूत्रकार एवं वार्त्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुये अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों से भी अधिक पतञ्जलि के वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठित रूप का निर्धारण करना पतञ्जलि का ही कार्य है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से ही पतञ्जलि का कार्य महत्वपूर्ण नहीं है। प्रत्युत शैली की दृष्टि से भी उनका महत्व सर्वोपरि है। उन्होंने रोचक शैली तथा प्रवाहमयी भाषा में व्याकरण के सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया है। व्याकरण जैसे नीरस माने गये विषय को इतनी सरल एवं सरस शैली में स्पष्ट रूप से समझाना पतञ्जलि की अद्वितीय विशेषता है। इनकी शैली में नाटकीयता है, यत्र-तत्र रोचक सम्वादों के दर्शन होते हैं। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का लालित्य उपलब्ध होता है। हाँ, शैली की सरसता एवं रोचकता में कभी-कभी यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि महाभाष्यकार का स्वमन्तव्य वस्तुतः क्या है।

व्याकरण के अतिरिक्त महाभाष्य में अन्य अनेक विषयों के संकेत भी उपलब्ध होते हैं। उससे भारतीय इतिहास के कितने ही विवादास्पद सन्दर्भों पर नवीन प्रकाश पड़ता है, तत्कालीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं का परिचय मिलता है। किञ्च, व्याकरण-दर्शन के विशिष्ट मन्तव्यों का बीज भी महाभाष्य में विद्यमान है। इसी के आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन का विशद विवेचन किया है। महाभाष्य व्याकरण का आकर ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है। यहाँ सरल भाषा में सूक्ष्म एवं गहन अर्थ को प्रकट किया गया है। अतः चिरकाल से गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा महाभाष्य के मर्म

को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं। उनमें से कतिपय टीकाएँ अधिक प्रसिद्ध रही हैं। भर्तृहरि ने 'महाभाष्य दीपिका' नामक एक टीका लिखी थी जिसका कुछ अंश ही उपलब्ध हो सका है। आज तो महाभाष्य के मर्म को समझने के लिये कैयटकृत 'प्रदीप' तथा नागेशकृत 'प्रदीपोद्योत' नामक टीकाएँ ही विशेष सहायक समझी जाती हैं।

द्वितीय युग

महाभाष्य के साथ-साथ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरल टीका-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। यहीं से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिये। इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका-ग्रन्थ लिखे गये। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी। वामन तथा जयादित्य (६६० ई०) ने अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक वृत्ति लिखी। 'काशिका' पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक व्याख्या की। इस युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन भी प्रारम्भ हो गया। भर्तृहरि (६५० ई०) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर इस विवेचना का श्रीगणेश किया। इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है।

भर्तृहरि—(सप्तम शताब्दी)

भर्तृहरि का संस्कृत-व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है। व्याकरण के मुनि-त्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दृष्टि जाती है। फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।

भर्तृहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है। अनेक विद्वान् इत्सिंग नामक चीनी-यात्री के लेख का अनुसरण करके भर्तृहरि का समय सप्तमी शती ई० का उत्तरार्ध मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के भाई थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने इत्सिंग के लेख की भूल की ओर संकेत करते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भर्तृहरि का समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व होना चाहिये।

भर्तृहरि के जीवनवृत्त के विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ प्रामाणिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुण्यराज की टीका से विदित होता है कि भर्तृहरि के गुरु वसुरात थे। 'प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागम-संग्रहः' इस श्लोक की अवतरणिका में पुण्यराज ने लिखा है—'तत्र भगवता वसुरात-गुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।' इत्सिंग के विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भर्तृहरि बौद्ध था उसने सात बार प्रव्रज्या गृहण की थी। वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि वैदिक मत के अनुयायी थे।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्' इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों में भी उनकी वेद के प्रति आस्था दिखलायी देती है।

भर्तृहरि की रचनाएँ—संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जैसे महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति। इनके अतिरिक्त 'वेदान्तसूत्रवृत्ति' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भर्तृहरि से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका के रचयिता एक ही भर्तृहरि हैं, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति के कर्त्ता उससे भिन्न हैं; किञ्च भट्टिकाव्य एवं भागवृत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न ही हैं। इस प्रकार तीन भर्तृहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस भर्तृहरि की रचना है।

महाभाष्यदीपिका—महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तृत व्याख्या थी। इत्सिंग के अनुसार इसका परिमाण २५००० श्लोक के बराबर था। यह व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसकी ओर संकेत किया है—'सहितसूत्र-भाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्'। आधुनिक युग में डा० कीलहार्न ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक अंश की हस्तलिपि विद्यमान है। इसकी फोटो कापी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय—यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है इसके तीन काण्ड हैं—ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त माना गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं अर्थ की दृष्टि से विवेचन किया गया है [वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं शेष वाक्यपदीय भी प्रकाशित हुआ है अभी कुछ समय पूर्व वाक्यपदीय का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।]

इस प्रकार भर्तृहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं हैं। उनका विशिष्ट महत्त्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण-दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण-दर्शन के मन्तव्य यत्र-तत्र कहीं संकेत रूप में तथा कहीं स्पष्ट रूप में विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण प्रथमतः भर्तृहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तृहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

तृतीय युग

तृतीय युग में पाणिनि व्याकरण के अध्ययन की दृष्टि बदल गई। विषय-विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या की जाने लगी। वास्तव में इस युग में शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रों के विवेचन पर कम। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास विमल सरस्वती (१३५० ई०) का था जिन्होंने 'रूपमाला' लिखी। इसी दृष्टि से रामचन्द्र (१५ वीं शती) ने प्रक्रिया-कौमुदी लिखी। प्रक्रिया-युग में सब से महत्वपूर्ण स्थान भट्टोजिदीक्षित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वैयाकरण-भूषण' उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजिदीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था।

भट्टोजिदीक्षित—(१६ वीं शताब्दी ई० के लगभग)

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। वैयाकरण-भूषण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। प्रौढ-मनोरमा की टीका 'शब्दरत्न' के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'प्रौढमनोरमा-खण्डन' नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में शेषकृष्ण के लिये गुरु शब्द का प्रयोग भी किया है। एक अन्य स्थल पर इन्होंने अप्पय्य दीक्षित को भी नमस्कार किया है। (व्या० शा० का इतिहास पृ० ४४७)।

बेलवत्कर ने भट्टोजिदीक्षित का समय १६००-१६५० ई० माना है। कुछ विद्वान् इनका समय १५८० ई० (१६३७ वि० सं०) के लगभग मानते हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्म-काल वि० सं० की सोलहवीं शताब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिये।

भट्टोजिदीक्षित की कृतियाँ—

भट्टोजिदीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इन्होंने अष्टाध्यायी पर 'शब्दकौस्तुभ' नामक एक वृत्ति लिखी थी। आज इस वृत्ति के प्रारम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्यायी ही उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा। इसीलिये इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई थीं। सम्भवतः पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कौस्तुभ-खण्डन' नामक ग्रन्थ भी लिखा था।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी—भट्टोजिदीक्षित की कीर्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है। यह 'शब्द कौस्तुभ' के पश्चात् लिखा गया था। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं ही इस पर प्रौढमनोरमा नाम की टीका लिखी है। सिद्धान्त-कौमुदी को प्रक्रिया-पद्धति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है। इससे पूर्व जो प्रक्रिया

ग्रन्थ लिखे गये थे उनमें अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित किया है, इसी के अन्तर्गत समस्त धातुओं के रूपों का विवरण दे दिया है तथा लौकिक संस्कृत के व्याकरण का विश्लेषण करके वैदिक-प्रक्रिया एवं स्वर-प्रक्रिया को अन्त में रख दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने काशिका, न्यास एवं पदमञ्जरी आदि सूत्रक्रमानुसारिणी व्याख्याओं तथा प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं के मतों की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परिभाषाओं, वार्तिकों तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनित्रय के मन्तव्यों का सामञ्जस्य दिखाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मत भी स्थापित किये हैं। साथ ही प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त किन्हीं विवादास्पद प्रयोगों की साधुता पर भी विचार किया है। मध्ययुग में सिद्धान्तकौमुदी का इतना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि पाणिनि व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं मुग्धबोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विलीन होती चली गईं। कालान्तर में प्रक्रिया-पद्धति तथा सिद्धान्तकौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई किन्तु वे इसे न छोड़ सके।

इनके अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित का 'वेदभाष्यसार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)। यह ऋग्वेद सायणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजिदीक्षित की ३४ कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें 'धातुपाठ-निर्णय' नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी 'अमरटीका' नामक कृति उपलब्ध हुई है।

पाणिनीय व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि-व्याकरण पर उनका ऐसा अनूठा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्त्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का संक्षिप्त किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित है :—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ।

कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥

प्रक्रिया के युग को शास्त्रार्थ के क्षेत्र में प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य है। इनकी प्रतिभा अनूठी थी। इनका विविध शास्त्रों पर समान अधिकार था। उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में नव्य-न्याय की शैली का प्रवेश किया तथा अनेक मौलिक एवं व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की।

नागेश भट्ट—(१७ वीं तथा १८ वीं शती ई०)

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन-वृत्त के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है ! जनश्रुति के अनुसार वे महाराष्ट्र के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण थे । शब्देन्दुशेखर के मङ्गल से विदित होता है कि उनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी था—‘शिवभट्टमुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः’ । नागेश भट्ट के पूर्वज ‘उपाध्याय’ कहलाते थे । मङ्गल श्लोक में बतलाया गया है कि नागेशभट्ट शृङ्गवेरपुर के राजा राम के आश्रित थे—शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः । विद्वानों का विचार है कि शृङ्गवेरपुर को आजकल सिंगरौरा कहा जाता है, यह प्रयाग से कुछ मील पर स्थित है । (परमलघुमञ्जूषा बड़ौदा १९६१ भूमिका) । लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि उनके कोई सन्तान न थी, शब्देन्दुशेखर को पुत्र और मञ्जूषा को कन्या मानकर उन्होंने शिव को अर्पित किया था—

शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका ।

स्वमती सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया ॥

जनश्रुति है कि वे षोडश वर्ष की आयु तक अशिक्षित रहे । एक बार अपनी अशिष्टता के कारण उन्हें पण्डितों की भर्त्सना सहन करनी पड़ी, जिससे उनके जीवन की दिशा बदल गई । तभी वे सरस्वती देवी की भक्ति में लग गये और सरस्वती के वरदान से विद्वान् हो गये । उन्होंने हरिदीक्षित (भट्टोजि के पौत्र) से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया था और ‘राम-राम’ नामक विद्वान् से—जो वादी रूपी राक्षसों के संहार में राम के समान थे—न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था—

अधीत्य फणिभाष्याब्धि सुधीन्द्रहरिदीक्षितात् ।

न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः ॥

वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि नागेश भट्ट ने महाभाष्य का १८ बार गुरुमुख से अध्ययन किया था (सं० व्या० का इतिहास) । नागेश विविध विषयों के विद्वान् थे—व्याकरण, दर्शन, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र सभी के प्रकाण्ड पण्डित थे ।

समय—आश्चर्य की बात है कि आज से लगभग २१० वर्ष पूर्व विद्यमान नागेश भट्ट का समय भी निश्चित नहीं है । उनके समय का निम्न आधारों पर अनुमान किया जाता है :—(i) जनश्रुति है कि जयपुर के महाराज जयसिंह ने एक अवसमेध यज्ञ किया था और उसमें नागेश भट्ट को (१७१४ ई० में) निमन्त्रित किया था; किन्तु नागेश भट्ट ने उस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे इस समय तक संन्यास ग्रहण कर चुके थे । (ii) भानुदत्तकृत रसमञ्जरी पर नागेश भट्ट की एक

टीका है, जिसकी हस्तलिपि इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका लेखन काल सं० १७६६ (१७१२ ई०) है। (iii) वैद्यनाथ पायगुण्ड का पुत्र बाल शर्मा जो नागेश भट्ट का शिष्य था उसने हेनरी टामस कोलब्रूक की प्रेरणा से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। कोलब्रूक १७८३-१८१५ ई० तक भारत में रहा। फलतः नागेश भट्ट का समय १७वीं शताब्दी ई० के अन्त तथा १८वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में है। (विशेष द्रष्टव्य सं० व्या० का इतिहास)।

नागेश भट्ट की कृतियाँ—

नागेश भट्ट की व्याकरण-सम्बन्धी रचनायें हैं—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघु शब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा और स्फोटवाद।

डा० वेलवल्कर का विचार है कि प्रौढमनोरमा की टीका शब्दरत्न जो हरि-दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध है वह भी नागेश भट्ट की ही कृति है। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी नागेश भट्ट के ग्रन्थ हैं, जैसे काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर उद्योत नाम की टीका है, रसगङ्गाधर तथा योगसूत्र पर भी व्याख्यायें हैं।

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय विशेषकर व्याकरण शास्त्र नागेश भट्ट के द्वारा गौर-वान्वित हुआ है। नागेश भट्ट ने महाभाष्य के मर्म को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में उनका अद्वितीय स्थान है, उन्होंने मञ्जूषा ग्रन्थ में व्याकरण दर्शन का विशद विवेचन किया है। इस विवेचन में बेदान्त की हृदयग्राह्यता है और न्याय की तर्कप्रवणता।

सिद्धान्तकौमुदी पर अन्य भी अनेक टीकायें लिखी गईं। उनमें परिव्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत 'तत्त्वबोधिनी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दृष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है। पाणिनि-व्याकरण में बालकों का प्रवेश कराने के लिये भट्टोजि के शिष्य वरदराजाचार्य के लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया। लघुकौमुदी में व्याकरण-प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण वरदराज ने दिया है, यह सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी एक विलक्षण कृति है।

३—पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थ ज्ञातव्य बातें—

पाणिनि व्याकरण के सामान्य परिचय के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि संक्षेप की ओर पाणिनि का विशेष ध्यान रहा। इसके लिये उन्हें अनेक उपायों को काम में लाना पड़ा। जिनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) प्रत्याहार—जब आदि के अक्षर का अन्त के इत्संज्ञक के साथ ग्रहण

किया जाता है उसके द्वारा आदि तथा मध्य के समस्त अक्षरों का बोध होता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।^१ ये प्रत्याहार विशेषकर वर्णमाला के वर्णों का बोध कराने के लिये माहेश्वरसूत्रों के आधार पर बनाये गये हैं, जैसे—

अइउण् ११। ऋलृक् १२। एओङ् १३। ऐऔच् १४। हयवरट् १५। लण् १६।
वमडणनम् १७। झभञ् १८। घढधष् १९। जवगडदश् ११०। खफछठथचटतव् १११। कपय्
११२। शषसर् ११३। हल् ११४।

ये १४ माहेश्वरसूत्र माने जाते हैं। इन सूत्रों के आधार पर अण् आदि-४२ प्रत्याहार बनते हैं। इन सूत्रों में अन्तिम हल् (व्यञ्जन) की इत्संज्ञा होती है।^२ आदि अक्षर को इत्संज्ञक के साथ मिलाकर प्रत्याहार बनता है; जैसे 'अइउण्' में अण् प्रत्याहार बनता है जो अ, इ, उ, का बोध कराता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों के विषय में भी जानना चाहिये; जैसे तिङ् प्रत्याहार है, यहाँ आदि 'ति'^३ को अन्तिम इत्संज्ञक ङ् के साथ मिला कर 'तिङ्' बनता है और इससे क्रिया में लगने वाले १८ (६ परस्मैपद + ६ आत्मनेपद) प्रत्ययों का बोध होता है। वर्णमाला के ४२ प्रत्याहार ये हैं—(अकारादि क्रम से)।

१ अक्	८ अश्	१५ ऐच्	२२ जण्	२९ भष्	३६ रल्
२ अच्	९ इक्	१६ खय्	२३ झय्	३० मय्	३७ बल्
३ अट्	१० इच्	१७ खर्	२४ झर्	३१ यञ्	३८ वण्
४ अण्	११ इण्	१८ ङम्	२५ झल्	३२ यण्	३९ शर्
५ अण्	१२ उक्	१९ चय्	२६ झश्	३३ यम्	४० शल्
६ अम्	१३ एङ्	२० चर्	२७ झष्	३४ यय्	४१ हल्
७ अल्	१४ एच्	२१ छव्	२८ बण्	३५ यर्	४२ हण्

(२) इत्संज्ञक—अष्टाध्यायी में निम्न वर्णों की इत्संज्ञा की गई है—(I) अन्त का हल्^४, (II) उपदेश^५ में अनुनासिक अच् (स्वर)^६, (III) प्रत्यय के आदि में आने वाले चवर्ग^७, टवर्ग^८, तथा णकार^९ (IV) तद्धितभिन्न प्रत्ययों के आदि में आने वाला

१. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७।१।

२. हलन्त्यम् १।३।३; ३. तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथा साथा-
ध्वमिङ् ब्रह्महिङ् ३।४।७।८; ४. हलन्त्यम् १।३।३

५. धातुसूत्रगणोगादिवाचयलिङ्गानुशासनम् ।

आगमप्रत्यादेशा उपदेशा प्रकीर्तिताः ॥

६. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२; ७. चुट्ट १।३।७; ८. षःप्रत्ययस्य १।३।६

लकार, शकार तथा क वर्ग ।' (V) धातु के आदि जि, टु, डु ।' इत्संज्ञक का लोप हो जाता है ।' किन्तु लोप हो जाने पर भी उसको उपलक्षण मानकर कुछ कार्य हो जाया करता है । जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५' से यञ् प्रत्यय होता है जिसमें य् इत् संज्ञक है अतः यञ् प्रत्यय जित् है, इसके जित् होने से आदि को वृद्धि होती है और 'गार्ग्यः' रूप बनता है । ये इत्संज्ञक 'अनुबन्ध' कहलाते हैं और इनके कारण व्याकरण में बड़ा लाघव हो गया है ।

(३) अधिकार—कुछ सूत्र ऐसे बनाये गये हैं जो यह बतलाते हैं कि अमुक सूत्र से अमुक सूत्र तक यह प्रत्यय होगा या यह कार्य होगा । ये अधिकार सूत्र कहे जाते हैं । जैसे—'कारके ३' अथवा 'प्राग्दिशो विभक्तिः ५२ः' इत्यादि ।

(४) अनुवृत्ति—लाघव के लिये पाणिनि ने ऐसा किया है कि एक (पूर्व) सूत्र में कोई एक पद रख दिया, अग्रिम सूत्रों में जहाँ उस पद की आवश्यकता हुई पूर्वसूत्र से लेकर अन्वय कर लिया गया । पूर्व सूत्रों से अग्रिम सूत्रों में पद के इस अनुवर्तन को ही अनुवृत्ति कहते हैं । सामान्यतः यह अनुवृत्ति एक सूत्र से निकट वाले अग्रिम सूत्र में जाती है और फिर क्रमशः आगे के सूत्रों में की जाती है किन्तु कभी-कभी बीच के सूत्रों में किसी पद की अनुवृत्ति नहीं होती तथा एकदम आगे के (व्यवहित) सूत्र में हो जाती है । उसे मण्डूकप्लुति या मण्डूकप्लुत्या अनुवृत्ति कहते हैं । (देखिये सूत्र १२) ।

(५) अपकर्ष—जहाँ आगे के सूत्र से पूर्व सूत्र में किसी पद को खींच लिया जाता है अर्थात् अन्वित किया जाता है, वहाँ अपकर्ष कहा जाता है (देखिये सूत्र २८४) ।

(६) सन्धिविषयक शब्द—(i) एकादेश—जहाँ दो वर्णों को मिलाकर एक रूप हो जाता है वह एकादेश कहलाता है जैसे अ + इ = ए एकादेश होता है । (ii) पररूप—जहाँ पूर्व तथा पर अक्षर को मिलाकर परवर्ण हो जाता है वहाँ पररूप कहलाता है, जैसे—प्र + एजते = प्रेजते, यहाँ अ ए = ए होता है । (iii) पूर्वरूप—जहाँ पूर्व तथा पर वर्ण के मिलने पर पूर्ववर्ण हो जाता है वह पूर्वरूप कहलाता है; जैसे—हरे + अव = हरेऽव, यहाँ ए + अ = ए होता है । (iv) प्रकृतिभाव—जहाँ वर्णों को प्राप्त होने वाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकृतिभाव (जैसा का तैसा रहना) कहलाता है; जैसे—गो + अग्रम् = गो अग्रम्; यहाँ विकल्प से ओ + अ = ओ + अ ही रहता है; पूर्वरूप आदि नहीं होता ।

(७) कुछ ज्ञातव्य संज्ञाएँ (i) अङ्ग—जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है उसे अङ्ग कहते हैं।^१ जैसे—कर्ता, यहाँ कृ (प्रकृति) से वृच् प्रत्यय कहा गया है। कृ अङ्ग है।

(ii) प्रातिपदिक—धातु और प्रत्यय (प्रत्ययान्तों) को छोड़कर सभी अर्थयुक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।^२ प्रत्ययान्तों में भी कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।^३ प्रातिपदिक संज्ञक शब्द से सु आदि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं।

(iii) पद—(क) सुवन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती है;^४ जैसे—राम + सु = रामः यह सुवन्त है और पठ् + अ + ति = पठति यह तिङन्त पद है। सु से लेकर सुप् तक के सातों विभक्तियों के २१ प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले १८ प्रत्यय तिङ् कह जाते हैं। ये सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं। (ख) सित् (जिसमें स् की इसंज्ञा हो) प्रत्यय पर होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है।^५ (ग) सर्वनाम स्थान^६ को छोड़कर सु से लेकर कप् तक के प्रत्यय पर होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है।^७ पद संज्ञा हो जाने से राजत्वम् = (राजन् + त्व) में न लोप होता है।

(iv) भ संज्ञा—(क) जिस प्रत्यय के आरम्भ में यकार या अच् (स्वर) होता है उसके परे होने पर पूर्व की भ संज्ञा होती है, पद संज्ञा नहीं।^८ (ख) तकारान्त और सकारान्त शब्द की मत्वर्थ प्रत्यय पर होने पर भ संज्ञा होती है।^९

(v) विभाषा—प्रतिषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है (नवेति विभाषा १।१।४४) विभाषा का अर्थ है किसी कार्य का विकल्प से होना। 'वा' तथा 'अन्यतरस्याम्' शब्दों का भी विभाषा शब्द के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वह विभाषा कई प्रकार की होती है, जैसे १. प्राप्तविभाषा—किसी नियम से प्राप्त हुए कार्य का विकल्प, २. अप्राप्तविभाषा—किसी नियम से अप्राप्त कार्य का विकल्प से

-
१. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३
 २. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५
 ३. कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६
 ४. सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४
 ५. सिति च १।१।१६
 ६. नपुंसक-भिन्न प्रथमा विभक्ति के तीन प्रत्यय सु, औ, जस् तथा द्वितीया के दो प्रत्यय (अम्, औट्) सर्वनामस्थान कहलाते हैं (सुडनपुंसकस्य १।१।४३)।
 ७. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७
 ८. यचि भम् १।४।१८
 ९. तसौ मत्वर्थे १।४।१९

विधान, ३. उभयत्र विभाषा (प्राप्ताप्राप्त विभाषा)—कहीं प्राप्त तथा कहीं अप्राप्त विधि का विकल्प, ४. व्यवस्थित विभाषा—व्यवस्था से विकल्प अर्थात् कहीं कार्य होना कहीं न होना (देखिये सूत्र १२)

(Vi) उपधा—अन्तिम वर्ण से पहले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। (अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५)। जैसे—पठ् में पकार से अगले अकार की उपधा संज्ञा है।

(Vii) टि—किसी शब्द का अन्तिम स्वर-सहित आगे वाला अंश टि कहलाता है (अचोऽन्त्यादि टि १।१।४) जैसे पठ् में अठ् टि संज्ञक है।

(Viii) संयोग—जब व्यञ्जनों (हल्) के बीच में स्वर नहीं होते तो यह व्यञ्जनों का संयोग कहलाता है (हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७)। जैसे अल्प में ल् और प् का संयोग है।

(ix) सम्प्रसारण—य् व् र् ल्, के स्थान पर होने वाले इ, उ, ऋ तथा लृ की सम्प्रसारण संज्ञा होती है (इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५)।

(X) गुण—अ, ए तथा ओ की गुण संज्ञा होती है (अदेङ् गुणः १।१।२)।

(Xi) वृद्धि—आ, ऐ तथा औ की वृद्धि संज्ञा होती है (वृद्धिरादैर्ज् १।१।१)।

(Xii) लोप—प्राप्त हुए प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना लोप कहलाता है (अदर्शनं लोपः १।१।६०)। प्रत्यय के लोप की विविध स्थलों पर लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है। (प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१) अर्थात् जिस संज्ञा से प्रत्यय का लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(Xiii) आदेश—किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है, जैसे समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है।

(Xiv) आगम—किसी वर्ण आदि का प्रकृति या प्रत्यय के साथ आ मिलना आगम कहलाता है। ये आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—टित्, कित् तथा मित्। जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि में होता है, कित् अन्त में होता है।^१ मित् अन्त्य के अच् से परे होता है।^२

टिप्पणी—आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ हैं, पाणिनि ने इनके लिये कोई सूत्र नहीं बनाया।

(c) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपाय—(i) योग-विभाग—कभी-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों से नहीं होता

१. आद्यन्तो टकितौ १।१।४६

२. मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७

ऐसी दशा में महाभाष्यकार आदि ने सूत्र के दो अंश (योग-विभाग) करके शब्दों की सिद्धि दिखलाई है यही योग-विभाग कहलाता है। (देखिये सूत्र ६८ आदि)।

(ii) ज्ञापक—कभी-कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नहीं होता किन्तु पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किये हुए प्रयोग से उसकी साधुता सिद्ध होती है यह ज्ञापक-सिद्ध प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के भी ज्ञापक होते हैं (देखिये सूत्र ६४)।

(iii) इष्टि—महाभाष्यकार ने कुछ सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली बातों को अभीष्ट माना है वे भाष्येष्टि या इष्टि नाम से प्रसिद्ध हैं।

(६) इसके अतिरिक्त विविध प्रकरणों में यत्र-तत्र कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रसङ्ग भी आ गया है। जैसे—निपातन [सूत्र ३७८] आकृतिगण आदि। उनकी व्याख्या यथास्थान करने का प्रयास किया गया है। इन सब बातों का ध्यान रखना संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में विशेष सहायक है।

१। प्र

पदिका

कृष्णः

वाला

कारक

कहलाते

है) यह

दोनों

सम्बन्ध

कारक

कर्म, व

तीन-त

हैं कि

वर्णन

स्थिति

है, अ

संख्या

शब्द

के बो

अथ कारकप्रकरणम्

१ । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६॥

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदा-

अथ कारकप्रकरणम्—‘कारक’ शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला । किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है । जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—“देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति” (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वाला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु ‘यज्ञदत्त’ का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये ‘यज्ञदत्त’ यहाँ कारक नहीं । इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते । संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जैसा कि कहा भी है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च ।

अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट् ॥

वस्तुतः सिद्धान्तकौमुदी का यह प्रकरण विभक्ति-प्रकरण है सुप् प्रत्ययों में तीन-तीन (सु औ जस्) आदि की विभक्ति संज्ञा है । ये विभक्तियाँ प्रथमा इत्यादि सात हैं किस विभक्ति का प्रयोग किस अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है, इसका वर्णन यहाँ किया गया है ।

प्रथमा विभक्ति । १. प्रातिपदिकेति—शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है । सूत्र में ‘मात्र’ शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ लिङ्गमात्र एवं परिमाणमात्र अधिक होने पर तथा संख्यामात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है ।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

(१) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (२) लिङ्गमात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ,

(३) परिमाणमात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (४) वचनमात्र ।

प्रातिपदिकार्थमात्रे—सार्थक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं । अंग्रेजी में जो शब्द की Crude form कहलाती है वही प्रातिपदिक समझना चाहिये । जिस शब्द के बोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं । शब्द

१. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम् ।

हरणम् अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य । तटः । तटी । तटम् । परिमाण-
मात्रे, द्रोणो व्रीहिः । द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्य-
यार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरि-

के इस नियत अर्थ को प्रकट करने के लिये भी विभक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि संस्कृत में पद का ही प्रयोग किया जाता है (नापदं प्रयुञ्जीत तथा न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः) और सुबन्त या तिङन्त को ही पद कहते हैं (सुप्तिङन्तं पदम्) । प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है । जो शब्द अलिङ्ग हैं अर्थात् किसी लिङ्ग का बोध नहीं कराते अथवा जो नियत लिङ्ग वाले हैं, अर्थात् जिनके अर्थ के साथ-साथ लिङ्ग का बोध भी नियत रूप से हो जाता है, वे ही इसके उदाहरण हैं । जैसे—उच्चैस्, नीचैस् ये अलिङ्ग अव्यय शब्द हैं । इनसे प्रथमा विभक्ति होकर उच्चैस् + सु → सु लोप (अव्ययों से सुप् का लोप हो जाता है) और पद हो जाने से स् को विसर्ग उच्चैः आदि रूप होते हैं । * कृष्ण शब्द से पुल्लिङ्ग की, 'श्री' शब्द से स्त्रीलिङ्ग की तथा 'ज्ञान' शब्द से नपुंसक लिङ्ग की नियम से प्रतीति होती है । अतः ये नियतलिङ्ग के उदाहरण हैं । इनसे प्रथमा विभक्ति होकर! कृष्णः, श्रीः तथा ज्ञानम् रूप होते हैं ।

लिङ्गमात्राधिक्ये—प्रातिपदिकार्थ के विना केवल लिङ्ग आदि की प्रतीति तो होती नहीं अतः लिङ्गमात्र का अधिक बोध कराने के लिये प्रथमा होती है, यह अर्थ समझना चाहिये । अनियत लिङ्ग वाले शब्द इस के उदाहरण हैं । जैसे—तटः, तटी, तटम् ये शब्द 'किनारा' अर्थ के साथ-साथ क्रमशः पुल्लिङ्ग आदि का भी बोध कराते हैं, जो इनका नियत अर्थ नहीं । तट शब्द अनियत लिङ्ग वाला है, इसका नियत लिङ्ग एक नहीं । कभी पुल्लिङ्ग कभी स्त्रीलिङ्ग, कभी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है । इस प्रकार 'तटः' आदि शब्द का नियत अर्थ तटत्व (किनारा) है । उससे अधिक पुंस्त्व आदि का ज्ञान भी यहाँ होता है । अतः ये लिङ्गमात्राधिक्य के उदाहरण हैं । यहाँ प्रातिपदिकार्थ से लिङ्गमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है ।

परिमाणमात्राधिक्ये—(उपर्युक्त रीति से) परिमाणमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है । जैसे द्रोणो व्रीहिः—द्रोणरूप, जो परिमाण उससे मापा गया व्रीहि, यह अर्थ है । 'द्रोण' एक परिमाण (माप) का नाम है । यदि यहाँ 'द्रोणः' शब्द में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती तो 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे अभिन्न व्रीहि' यह अर्थ प्रतीत होता । क्यों ? यहाँ जो परिमाण है वह नाम (प्रातिपदिक) का अर्थ होता; और नियम यह है कि समान विभक्ति वाले नाम पदों के अर्थों का

* व्याकरण के अनुसार अव्यय शब्दों से भी प्रथमा विभक्ति आती है किन्तु उसका लोप हो जाता है । विभक्ति लगाने पर ही अव्यय शब्द पद (सुबन्त) कहलाते हैं और प्रयोग के योग्य होते हैं । अव्ययादाप्सुपः २।४।८२॥

च्छेदकभावेन व्रीही विशेषणमिति विवेकः । वचनं संख्या । एकः द्वौ । बहवः ।
इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् ॥

२ । संबोधने च । २।३।४७॥

इह प्रथमा स्यात् । हे राम ॥ इति प्रथमा ॥

३ । कारके । १।४।२३॥

इत्यधिकृत्य ॥

४ । कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १।४।४६॥

अभेदान्वय हुआ करता है । (नामार्थयोरभेदान्वयः) । किन्तु यहाँ 'द्रोण परिमाण से मापा हुआ व्रीहि' यह अर्थ अभीष्ट है । अतः परिमाणमात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है । फलतः—यहाँ द्रोण शब्द से होने वाली प्रथमा सामान्य-परिमाण अर्थ को प्रकट करती है । द्रोण शब्द का अर्थ है—द्रोणनामक परिमाण-विशेष । इसलिये द्रोण (प्रकृति) का अर्थ (परिमाण-विशेष) प्रथमा के अर्थ परिमाण-सामान्य में अभेद सम्बन्ध से अन्वित हो जाता है और "द्रोण रूप परिमाण" यह अर्थ हो जाता है । अब परिमाण प्रत्यय का अर्थ है अतः इस अर्थ का परिच्छेद-परिच्छेदक-भाव सम्बन्ध से व्रीहि के साथ अन्वय होता है और "द्रोण रूप परिमाण से मापा हुआ व्रीहि" यह अर्थ हो जाता है ।

वचनमात्रे—वचन कहते हैं संख्या को । केवल संख्या को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे एकः, द्वौ, बहवः । यहाँ एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व आदि अर्थ शब्दों से ही प्रकट हैं । किञ्च प्रथमा विभक्ति के जो प्रत्यय सु, औ, जस् हैं उनका भी क्रमशः एकत्व, द्वित्व, बहुत्व अर्थ होता है । अतः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) इस न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिये थी, इसीलिये सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है ।

२ सम्बोधन इति—सम्बोधन में अर्थात् प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा सम्बोधन मात्र अर्थ अधिक होने पर भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है । इस प्रकार संस्कृत भाषा में सम्बोधन के लिये पृथक् विभक्ति नहीं है । जैसे—हे राम ! यहाँ राम शब्द से प्रथमा विभक्ति होकर (राम + सु), सम्बोधन में सु का लोप हो जाता है ।

इति प्रथमा ।

द्वितीया विभक्ति । ३ कारके—इस सूत्र से कारक का अधिकार करके कर्म आदि कारकों की संज्ञा की गई है । यह अधिकार सूत्र है । इसके आगे जो कर्म आदि संज्ञाविधायक सूत्र हैं उन सब में 'कारक' पद का अन्वय होता है ।

४ कर्तुरिति—कर्त्ता अपनी क्रिया से जिस पदार्थ को प्राप्त करने की अधिक इच्छा रखता है वह कारक कर्मसंज्ञक होता है ।

१. जिससे कोई चीज नापी या तोली जाती है वह परिच्छेदक कहलाता है और जो चीज नापी या तोली जाती है वह परिच्छेद्य ।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । कर्तुः किम् ? माषे-
ष्वश्वं बध्नाति । कर्मणा ईप्सिता माषा न तु कर्तुः । तमवग्रहणं किम् ? पयसा
ओदनं भुङ्क्ते । कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् अन्यथा गेहं
प्रविशतीत्यत्रैव स्यात् ।

५ । अनभिहिते । २।३।१॥

इत्यधिकृत्य ॥

कर्तुः किमिति—जो कर्त्ता की क्रिया द्वारा उसे सबसे अधिक अभीष्ट होता है वह कर्मसंज्ञक होता है । ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि कोई पदार्थ कर्म आदि को अभीष्ट हो और कर्त्ता को अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे 'माषेष्वश्वं बध्नाति'—उड़दों (माष) में घोड़े को बांधता है । यहाँ उड़द कर्म (अश्व) को अभीष्ट हैं वही उन्हें खाना चाहता है । कर्त्ता के उड़द अभीष्ट नहीं, उसका अभीष्ट तो अश्व को बांधना ही है । इस हेतु अश्व की कर्म संज्ञा होगी माष की नहीं । 'माष' बन्धन क्रिया का अधिकरण है अतः माषेषु में सप्तमी विभक्ति है ।

तमव इति—ईप्सित शब्द से तमप् प्रत्यय क्यों लगाया ? इसलिये कि जो वस्तु कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट हो, उसकी कर्म संज्ञा होनी चाहिये, अन्य की नहीं । जैसे—'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (दूध से भात खाता है) । यहाँ कर्त्ता को अपनी भोजन क्रिया से ओदन अभीष्टतम है । यद्यपि वह दूध भी प्राप्त करना चाहता है तथापि दूध भोजन क्रिया में साधन ही है, वह भोजन का उद्देश्य नहीं है । इससे ओदन की कर्म संज्ञा होती है पयः की नहीं ।

कर्म इति—यहाँ पाणिनि के सूत्रों का क्रम है—आधारोऽधिकरणम् १।४।४५, अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६, अभिनिविशश्च १।४।४७, उपान्वध्याङ् वसः १।४।४८, कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९। इस प्रकार 'अधिशीङ् स्थासां कर्म' १।४।४६ सूत्र से आ ही रहा था (अनुवृत्ति हो रही थी) फिर 'कर्म' का ग्रहण आधार-निवृत्ति के लिये किया गया है । नहीं तो कर्म के साथ आधार भी चला आता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'गेह' की ही कर्म संज्ञा होती, 'हरि भजति' आदि में हरि की नहीं । 'कर्म' ग्रहण करने पर तो वहाँ से किसी शब्द की भी अनुवृत्ति नहीं होती और 'हरि भजति' आदि में भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

५ अनभिहित इति—'अनभिहित' अर्थ में इसका अधिकार करके । अनभिहित शब्द का अर्थ है—अनुक्त । जिस अर्थ में कोई प्रत्यय आदि होता है वह अर्थ उक्त हो जाता है, जैसे—'सेव्यते' में कर्म में (तिङ्) प्रत्यय हुआ है, वहाँ कर्म उक्त हो जाता है । उक्त के अर्थ से भिन्न अनुक्त या अनभिहित होता है । यह अधिकार सूत्र है । आगे के द्वितीया आदि विभक्ति के विधायक सभी सूत्रों में 'अनभिहिते' पद का अन्वय होता है ।

६। कर्मणि द्वितीया । २।३।२॥

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमैव । अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृतद्वितसमासैः । तिङ्, हरिः सेव्यते । कृत्, लक्ष्म्या सेवितः । तद्वितः, शतेन क्रीतः शत्यः । समासः, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः । क्वचिन्निपातेनाभिधानं यथा 'विष्वक्षोऽपि संवध्यं स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः ।

६. कर्मणीति—अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरिं भजति—(हरि को भजता है) इस वाक्य में कर्ता (भक्त) का ईप्सिततम 'हरि' है । हरि की ४ कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से कर्म संज्ञा हो जाती है । 'भजति' क्रिया कर्तृवाच्य की है यहाँ लकार (ति) कर्ता में हुआ है; इसलिये कर्म अनुक्त है—किसी प्रत्यय आदि से कहा नहीं गया । अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' में प्रस्तुत सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है ।

अभिहित इति—उक्त कर्म में तो प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा ही होती है ।

संक्षेप में यह समझना चाहिये कि कर्तृवाच्य के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । कर्मवाच्य में लकार कर्म में होता है अतः कर्म उक्त हो जाता है । वहाँ (उक्त) कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे—'हरिः सेव्यते' यहाँ 'हरिः' प्रथमा विभक्ति में है ।

अभिधानमिति—प्रायः तिङ्, कृत्, तद्वित और समास से कर्म आदि कारक उक्त होते हैं ।

हरिः सेव्यते—यहाँ कर्म तिङ् से उक्त है, क्योंकि यहाँ कर्म में लकार होता है, कर्मवाच्य की क्रिया है । अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति है ।

लक्ष्म्या सेवितः—में 'सेवित' शब्द 'सेव्' धातु से 'क्त' प्रत्यय (कृत्) होकर बना है । 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ है अतः कर्म कृत्प्रत्यय 'क्त' से उक्त हो गया । इसी से 'लक्ष्म्या सेवितः हरिः' यहाँ 'हरि' में द्वितीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु कर्म उक्त होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है ।

शत्यः—शतेन क्रीतः (सौ से खरीदा हुआ) । यहाँ शत शब्द से कर्म अर्थ में 'यत्' तद्वित प्रत्यय (शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१।) होकर 'शत्य' शब्द बनता है । कर्म तद्वित से उक्त है अतः 'शत्यः' में द्वितीया विभक्ति न होकर प्रथमा ही होती है ।

प्राप्तानन्दः—प्राप्तः आनन्दो यं सः (देवदत्तादिः) प्राप्तानन्दः । यहाँ प्राप्त और आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है । अन्य पदार्थ

१. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । ३।४।६६॥

२. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः । ३।४।७०॥

७। तथायुक्तं चानीप्सितम् । १।४।५०।

ईप्सिततमवक्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति । ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते ॥

८। अकथितं च । १।४।५१॥

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

(देवतादि) का कर्म बहुव्रीहि समास से उक्त हो जाता है । इसलिये 'प्राप्तानन्दः' इस समस्त पद का जो अन्यार्थ है उसके वाचक पद से द्वितीया नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है—'प्राप्तानन्दो देवदत्तः' इति ।

'अभिधानं तु प्रायेण' में प्रायेण शब्द रखने का तात्पर्य दिखलाते हैं । क्वचिन्निपातेनेति कहीं-कहीं निपात के द्वारा भी कर्म आदि उक्त हो जाते हैं । च, वा इत्यादि अव्ययों की निपात संज्ञा है । 'साम्प्रतम्' यह भी निपात है । 'साम्प्रतम्' का अर्थ है—उचित । असाम्प्रतम्-उचित नहीं (न युज्यते) । विषवृक्षोऽपि आदि में विषवृक्ष 'संवर्ध्य' तथा 'छेतुम्' का कर्म है । 'असाम्प्रतम्' निपात द्वारा विषवृक्ष की यह कर्मता उक्त हो गई है, इसी हेतु विषवृक्ष शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, प्रथमा होती है । किन्हीं का मत है कि यह कर्म 'अपि' निपात द्वारा 'उक्त' हो गया है ।

७. तथायुक्तमिति—जो पदार्थ कर्ता के अनीप्सित होते हुए भी ईप्सितम की तरह क्रिया से युक्त होते हैं, उनकी भी कर्म संज्ञा होती है ।

ये अनीप्सित पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—१. उपेक्ष्य—जिसके प्रति कर्ता उदासीन रहता है और २. द्वेष्य—जिसके प्रति कर्ता द्वेष रखता है । इन दोनों प्रकार के पदार्थों पर यदि क्रिया का फल पड़ता है तो ये कर्मसंज्ञक होते हैं और कर्म में द्वितीया होती है ।

ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति—(ग्राम को जाता हुआ तिनके को छूता है) यहाँ जाने वाले के लिये 'तृण' उपेक्ष्य है किन्तु छूना क्रिया के फल से युक्त होने के कारण 'तृण' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

विषं भुङ्क्ते—(विष खाता है) यहाँ विष द्वेष्य है किन्तु जिस प्रकार ओदन (भात) खाने में ओदन का भोजन क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यहाँ विष पर भी भोजन क्रिया का फल पड़ता है, इसीलिये विष की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

टिप्पणी—यदि किसी को तृण का स्पर्श करना अथवा विष खाना ही अभीष्ट है तो वहाँ जो 'तृणं स्पृशति', 'विषं भुङ्क्ते' प्रयोग होंगे उनमें पूर्वसूत्र (४) से ही कर्मसंज्ञा होगी ।

८. अकथितमिति—अपादान आदि विशेष रूपों से अविवक्षित कारक कर्मसंज्ञक होता है ।

दुह्याचपचदण्डरुध्रिप्रच्छिचिब्रू शासुजिमथमुषाम् ।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । अविनीतं विनयं याचते । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं

अभिप्राय यह है कि जहाँ अपादान आदि का अर्थ प्रकट होता है किन्तु वक्ता उसका प्रयोग नहीं करना चाहता । (अकथित=अविवक्षित) तथा कर्म की विवक्षा रखता है वहाँ उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ।

टिप्पणी—(१) अकथित च सूत्र से जो कर्म होता है उसे गोण या अप्रधान कर्म कहते हैं और 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से जो कर्म होता है वह प्रधान कर्म कहा जाता है ।

(२) जिन धातुओं में दो कर्म होते हैं वे द्विकर्मक कहलाती हैं । (३) 'अकथितं च' यह नियम आगे बतलाई गई 'दुह' आदि धातुओं पर ही लागू होता है—

दुह् इति—१-दुह् (दुहना), २-याच् (माँगना), ३-पच् (पकाना), ४-दण्ड् (दण्ड देना), ५-रुध् (रोकना), ६-प्रच्छ् (पूछना), ७-चि (चुनना), ८-ब्रू (कहना), ९-शास् (शासन करना), १०-जि (जीतना), ११-मन्थ् (मथना), १२-मुष् (चुराना), १३-नी (ले जाना), १४-हृ (हरना, ले जाना), १५-कृष् (खींचना), १६-वह् (ले जाना, ढोना)—इन दुह् आदि १२ तथा नी आदि ४ कुल मिलाकर १६ धातुओं के कर्म से जिसका सम्बन्ध होता है (कर्मयुक्) और जिसमें अपादान आदि की विवक्षा नहीं होती, वही अकथित कर्म कहा जाता है । इस प्रकार यहाँ भाष्य आदि में परिगणन किया गया है ।

१. गां दोग्धि पयः—(गाय से दूध दोहता है) यहाँ गाय सामान्यतः अपादान कारक है किन्तु यह अपादान कारक के रूप में विवक्षित नहीं, अपितु दूध रूप कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अतः उपर्युक्त नियम (अकथितं च) से 'गो' की कर्म संज्ञा होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । इसका अर्थ होता है—गोसम्बन्धी पयःकर्मक दोहन । यदि अपादान की विवक्षा होगी तो पञ्चमी विभक्ति होगी, तथा 'गोर्दोग्धि पयः' यही प्रयोग होगा । यहाँ 'पयः' प्रधान कर्म है और 'गाम्' गोण कर्म ।

२ बलिं याचते वसुधाम्—(बलि से पृथ्वी माँगता है) यहाँ बलि अपादान है इसकी अविवक्षा होने पर बलि की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है । अतएव बलि गोण कर्म है । अपादान की विवक्षा में 'बलेर्याचते वसुधाम्' वह प्रयोग होगा ।

अविनीतं विनयं याचते—(अविनीत से विनय के लिये प्रार्थना करता है) यहाँ 'याच्' धातु का अर्थ अनुनय या प्रार्थना है । 'अविनीत' इसका मुख्य कर्म है—'अविनीतं

पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राम-मजां नयति हरति कर्षति वहति वा ।

विनयाय अनुनयति' (अविनीत से विनय के लिये अनुनय करता है) यह अर्थ होता है । 'विनय' में सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होती है तथा द्वितीया विभक्ति होती है । अन्यो का मत है कि 'विनय' इसका मुख्य कर्म है । अविनीतकर्मक विनय की प्रार्थना करता है अतएव 'अविनीत' कर्ता है । उसमें कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है । अन्य मत के अनुसार 'अविनीत से विनय की प्रार्थना करता है' यह अर्थ है । अविनीत अपादान है । अपादानत्व की अविवक्षा में इसकी कर्मसंज्ञा होती है ।

३. तण्डुलान् ओदनं पचति—(चावलों से भात पकाता है) यहाँ ओदन मुख्य कर्म है । तण्डुल करण है । तण्डुल में भी कर्म की विवक्षा में द्वितीया विभक्ति होती है । तण्डुल गौण कर्म है ।

४. गर्गान् शतं दण्डयति—(गर्गों से सौ रुपया जुर्माना लेता है) यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है गर्गों से सौ रुपया दण्ड का लिया जाता है । गर्ग अपादान कारक है । गर्ग में कर्मत्व की विवक्षा होने से द्वितीया विभक्ति होती है ।

५. व्रजमवरुणद्धि गाम्—(गाय को व्रज में रोकता है) यहाँ 'गाम्' अवरुणद्धि का मुख्य कर्म है । 'व्रज' (गोशाला) जो आधार या अधिकरण है, उसकी अविवक्षा होने पर अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

६. माणवकं पन्थानं पृच्छति—(बालक से मार्ग पूछता है)—यहाँ पथ मुख्य कर्म है । माणवक अपादान है । उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है । कुछ का मत है कि माणवक करण है ।

७. वृक्षमवचिनोति फलानि—(वृक्ष से भलों को चुनता है)—यहाँ फल मुख्य कर्म है । वृक्ष अपादान है । अपादान की अविवक्षा में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

८, ९. माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा—(माणवक के लिये धर्म का उपदेश करता है)—यहाँ धर्म मुख्य कर्म है । माणवक सम्प्रदान है । उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है ।

१०. शतं जयति देवदत्तम्—(देवदत्त से सौ रुपये जीतता है)—यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है । देवदत्त अपादान है । उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है ।

११. सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—(सागर से अमृत मथता है)—यहाँ 'सुधा' मुख्य कर्म है । 'क्षीरनिधि' अपादान है । उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है । कुछ के मत में 'क्षीरनिधि' मन्थन का मुख्य कर्म है । 'सुधा के लिये क्षीर-

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते वक्तीत्यादि । कारकं किम् ? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति ।

* (वा) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्म-संज्ञक इति वाच्यम् ॥

कुरुन् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ।

निधि को मथता है' यह अर्थ है । सुधा सम्प्रदान है । उसमें कर्मत्व होकर द्वितीया हो जाती है ।

१२. देवदत्तं शतं मुष्णाति—(देवदत्त से सौ रुपये हरता है)—यहाँ 'शत' प्रधान कर्म है । देवदत्त अपादान है । उसमें कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

१३-१६. ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा—(गाँव में बकरी को ले जाता है)—यहाँ 'अजा' मुख्य कर्म है । ग्राम अधिकरण है । उसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है ।

अर्थनिबन्धेति—'अकथितं च' से जो कर्म संज्ञा होती है, वह अर्थार्थित है अर्थात् दुह् आदि धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी अपादान आदि की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है । इसीलिये 'याच्' धातु के अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु के योग में भी 'बलि' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है तथा 'ब्रू' धातु के अर्थ वाली 'भाष्' आदि धातु के योग में 'माणवक' में द्वितीया हो जाती है । इसी प्रकार अन्य परिगणित धातुओं की समानार्थक धातुओं के योग में भी यह कर्म संज्ञा हुआ करती है ।

कारकं किमिति—सूत्र के अर्थ में 'कारक' शब्द रखने का क्या अभिप्राय है ? यह कि अपादान आदि कारकों की अविवक्षा में उनकी ही यह कर्म संज्ञा होती है सम्बन्ध की नहीं । इसलिये 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' यहाँ 'माणवक' में द्वितीया नहीं होती, अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही होती है । यहाँ माणवक कारक नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं, अपितु केवल पिता से है ।

अकर्मक इति (वा)—अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है । जैसे—

कुरुन् स्वपिति (कुरुदेश में सोता है)—यहाँ 'कुरु' देशवाची है । यहाँ देश का अर्थ है—ग्रामों का समूह कुरु, पाञ्चाल आदि जनपद । कुरु आदि जनपदवाचक शब्दों का बहुवचन में ही, प्रयोग होता है । 'स्वप्' धातु अकर्मक है । यहाँ 'कुरु' की इस वार्त्तिक से कर्म संज्ञा होकर कर्मणि द्वितीया (६) से द्वितीया होती है ।

मासमास्ते (मास भर रहता है)—मास कालवाची है । यहाँ काल शब्द से दिन-रात के समूहवाचक 'मास' आदि का ग्रहण होता है । 'आस्' धातु अकर्मक है ।

गोदोहमास्ते (गो-दोहन वेला में है)—यहाँ 'गोदोह' शब्द का अर्थ है गोदोहन अर्थात् गोदोहन का समय । 'गोदोह' शब्द भाववाची है । भाव का अभिप्राय है धातु का अर्थ ।

६ । गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ । १।४।५२॥

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्त्ता स णौ कर्म स्यात् ।
शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् । आशयच्चामृतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम् ।

क्रोशमास्ते (कोस भर में है) — यहाँ क्रोश गन्तव्य मार्ग वाची है । जिस मार्ग को पार करना होता है वह गन्तव्य मार्ग है । इसके द्वारा यहाँ मार्ग के परिमाण के वाचक क्रोश आदि का ग्रहण होता है ।

टिप्पणी—(i) जहाँ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (१७) से द्वितीया प्राप्त नहीं होती वहाँ इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है । (ii) कुरु आदि को जब अधिकरण रूप में कहना अभीष्ट होता है तो 'कुरुषु स्वपिति' आदि प्रयोग भी होते हैं । (iii) अकर्मक धातुओं का संग्रह इस प्रकार किया गया है—

लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम् ।

शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणान्तमकर्मकमाहुः ॥

गतिबुद्धि इति—गमन अर्थ वाली, ज्ञान (बुद्धि) अर्थ वाली, भक्षण (प्रत्यवसान) अर्थ वाली, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का अप्यन्त अथवा साधारण अवस्था में जो कर्त्ता होता है वह प्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक दशा में कर्म हो जाता है ।

टिप्पणी—धातु की साधारण दशा वह है जहाँ कर्त्ता का स्वयं कार्य करना प्रकट होता है, जैसे—'गच्छति' वह जाता है । जब कर्त्ता से कोई अन्य व्यक्ति कार्य कराता है अर्थात् उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है तो उसे प्रेरणार्थक क्रिया द्वारा प्रकट किया जाता है । वहाँ धातु से णिच् (णि) प्रत्यय होकर उसका प्यन्त या णिजन्त रूप बनता है । जैसे—

गम् + णिच् + अ + ति → गम् + इ + अ + ति → गम् + ए + अ + ति = 'गमयति' = 'जाने की प्रेरणा देता है ।' प्रेरक को प्रयोजक कर्त्ता कहते हैं और जिसको प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोज्य कर्त्ता । गति० इत्यादि सूत्र से प्रयोज्य कर्त्ता की प्यन्त दशा में कर्म संज्ञा होती है । जैसे—

(१) शत्रून् अगमयत् स्वर्गम्—यहाँ गति अर्थ वाली धातु 'गम्' है । 'शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्' यह साधारण दशा का रूप है । इन्हें हरि ने स्वर्ग जाने के लिये प्रेरित किया अतः हरि प्रयोजक कर्त्ता है । 'अगमयत्' यह णिजन्त दशा का प्रयोग है । इसीलिये अणिजन्त अवस्था का कर्त्ता 'शत्रवः' अगमयत् (णिजन्त दशा) का कर्म हो जाता है । कर्म में द्वितीया होती है (शत्रून्) ।

(२) वेदार्थं स्वान् अवेदयत्—(स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया)—यहाँ बुद्धि (ज्ञान) अर्थ वाली धातु 'विद्' है । 'स्वे वेदार्थम् अविदुः' यह साधारण दशा का रूप है । 'अवेदयत्' णिजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से अप्यन्त दशा का कर्त्ता णिजन्त की अवस्था में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(स्वान्) ।

आसयत्सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥ गतीत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ॥

(३) आशयत् च अमृतं देवान्—(देवताओं को अमृत खिलाया)—यहाँ 'अश्' खाना अर्थ वाली धातु है । 'देवाः अमृतम् आशनन्' (देवों ने अमृत खाया) यह साधारण दशा का रूप है । 'आशयत्' णिजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता 'देवाः' णिजन्त दशा में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(देवान्) ।

() वेदमध्यापयद् विधिम् (ब्रह्मा को वेद पढ़ाया)—यहाँ 'इङ्' पढ़ना अर्थ वाली धातु है । यह ऐसी धातु है, जिसका कर्म शब्द है (शब्दकर्मक)* । 'विधिः वेदम् अध्येत' (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा); ब्रह्मा को हरि ने वेद पढ़ाया—'हरिः विधिं वेदमध्यापयत्' । 'अध्यापयत्' णिजन्त का प्रयोग है । यहाँ साधारण दशा के कर्त्ता 'विधि' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है ।

(५) आसयत् सलिले पृथ्वीम् (पृथ्वी को जल पर स्थित किया)—यह अकर्मक का उदाहरण है । आस् (बैठना) धातु अकर्मक है । 'आस्त सलिले पृथिवी' (पृथिवी सलिल पर स्थित हुई) । 'तां हरिः आसयत्'—उसे हरि ने स्थित किया । इस प्रकार साधारण दशा का 'कर्त्ता' पृथिवी है । 'आसयत्' यह णिजन्त का प्रयोग है । उपर्युक्त नियम से साधारण दशा के कर्त्ता पृथिवी को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है ।

श्लोक का अर्थ यह है—जिस श्री हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा, स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया, देवों को अमृत खिलाया, ब्रह्मा को वेद पढ़ाया और पृथिवी को जल पर स्थापित किया वह हरि मेरी गति है ।

(क) गतीत्यादि किमिति—गति आदि अर्थ वाली धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता को ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा होती है, यह क्यों कहा ? इसलिये कि इनसे भिन्न धातुओं में यह नियम नहीं लगता । अतएव 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' यहाँ देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं होती, अपितु धातु की साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' (देवदत्तः ओदनं पचति) प्रेरणार्थक दशा में कर्त्ता ही (प्रयोज्य कर्त्ता) रहता है और उसमें "कर्तृकरणयोस्तृतीया" २।३।१८ से तृतीया विभक्ति होती है ।

(ख) अण्यन्तानां किम् इति—(सूत्र में) अणि अर्थात् अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कर्म हो, यह क्यों कहा है ? इसलिये कि यदि णिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे—

(i) 'यज्ञदत्तः गच्छति'—यहाँ साधारण दशा में 'यज्ञदत्त' कर्त्ता है ।

* 'शब्दः कर्मकारकं येषां ते शब्दकर्मकाः'—शब्द है कर्म कारक जिनका वे शब्दकर्मक कहलाती हैं ।

* (वा) नीवह्योर्न ॥

नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ॥

* (वा) नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः ॥

वाहयति रथं वाहान् सूतः ।

* (वा) आदिखाद्योर्न ॥

आदयति खादयति वान्तं वटुना ।

(ii) 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्'—यहाँ अण्यन्त के कर्त्ता 'यज्ञदत्त' की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा हो गई है ।

(iii) 'देवदत्तम् अपरः (विष्णुमित्रः) प्रयुङ्क्ते'—देवदत्त को भी विष्णुमित्र प्रेरित करता है—'गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः'—यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि वह णिजन्त का कर्त्ता है अणिजन्त का नहीं और, ऊपर के सूत्र से अण्यन्त (अणिजन्त) के कर्त्ता की ही कर्म संज्ञा होती है ।

नीवह्योर्न इति (वा)—'नी' 'वह्' (ले जाना) णिजन्त धातुओं के प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—'भृत्यो भारं नयति, वहति वा' यहाँ 'भृत्य' साधारण दशा का कर्त्ता है अर्थात् प्रयोज्य कर्त्ता है । 'नाययति, वाहयति वा भारं भृत्येन' यहाँ णिजन्त के प्रयोग में भृत्य को कर्म संज्ञा नहीं होती अतः वह कर्त्ता ही रहता है और कर्त्ता में तृतीया होती है [नी-वह् धातुओं का अर्थ है प्रापण (पहुँचाना—गति कराना) अतः यहाँ गत्यर्थक होने से ऊपर का नियम प्राप्त था] ।

नियन्तृ इति—(वा) "नीवह्योर्न" इस वार्त्तिक से किया हुआ कर्म संज्ञा का निषेध वहाँ नहीं होगा, जहाँ 'वह्' धातु का कर्त्ता 'नियन्तृ' (हाँकने वाला) होगा । जैसे—

'वाहाः (आश्वाः) रथं वहन्ति' तान् नियन्ता (सारथि) प्रेरयति—

'वाहयति रथं वाहान् सूतः—(सारथि अश्वों द्वारा रथ को ले जाता है)—यहाँ 'वाह' (प्रयोज्य कर्त्ता) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हो ही जाती है ।

आदिखाद्योर्न (वा)—अण्यन्त अद् और खाद् धातु के कर्त्ता को उनके ण्यन्त प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती । अतएव प्रयोज्य कर्त्ता में तृतीया होती है; जैसे—

आदयति, खादयति वा अन्नं वटुना (बालक को अन्न खिलाता है)—वटुः अन्नम् अति (खादति वा) तम् अन्यः प्रेरयति—यहाँ अद् और खाद् धातु के भक्षणार्थक होने के कारण सूत्र (गतिबुद्धि०) से 'वटु' की कर्म संज्ञा प्राप्त थी ! प्रस्तुत वार्त्तिक के अनुसार वह कर्म संज्ञा नहीं होती । अतएव 'वटु' कर्त्ता ही रहता है और उसमें तृतीया विभक्ति होती है ।

* (वा) भक्षेरहिसार्थस्य न ॥

भक्षयत्यन्नं वटुना । अहिसार्थस्य किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् ।

* (वा) जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् ॥

जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः ।

* (वा) दृशेच्च ॥

दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरतिजिघ्रसीत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ॥

भक्षेरहिसार्थस्य न (वा)—जब भक्ष् धातु का भाव हिंसा (पीड़ा देना या हानि पहुंचाना) नहीं होता तो उसके साधारण दशा के कर्ता को णिजन्त के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती । जैसे—

भक्षयति अन्नं वटुना—“वटुः अन्नं भक्षयति” (वटु अन्न खाता है) उसे दूसरा प्रेरित करता है—“भक्षयति अन्नं वटुना ।” यहाँ वटु की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा कर्ता में तृतीया विभक्ति ही होती है ।

अहिसार्थस्य किमिति—जहाँ ‘भक्ष’ धातु के भाव से हिंसा प्रकट होती है वहाँ इसके प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा हो ही जाती है अतएव ‘बलीवर्दाः सस्यं भक्षयन्ति’ तान् अन्यः प्रेरयति ‘भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्’ यहाँ ‘बलीवर्दान्’ में द्वितीया होती है । अन्न की हानि हृदय को पीड़ा पहुंचाती है इसी लिये यहाँ हिंसा है ।

जल्पतीति (वा)—जल्पति आदि का अप्यन्त अवस्था में जो कर्ता होता है उसकी णिजन्त दशा में कर्म संज्ञा हो जाती है, यह भी कहना चाहिये । जैसे—‘पुत्रो धर्मं जल्पति भाषते वा’ । पुत्र को देवदत्त प्रेरणा देता है तो प्रयोग होगा—‘जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः ।’ यहाँ इस वार्तिक के अनुसार पुत्र की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

दृशेच्च (वा)—दृश् (देखना) धातु का साधारण दशा का कर्ता प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है । जैसे—‘भक्ताः हरिं पश्यन्ति ।’ उन्हें गुरु प्रेरित करता है—‘दर्शयति हरिं भक्तान् ।’ यहाँ इस नियम से ‘भक्त’ की कर्म संज्ञा होती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानाम् इति—(गतिबुद्धि आदि) सूत्र में बुद्धि शब्द से ज्ञान-सामान्यवाची बुध्, ज्ञा आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है, ज्ञानविशेष की वाचक स्मरति, जिघ्रति आदि का नहीं; यह ‘दृशेच्च’ वार्तिक से (अनेन) पता चलता है । यदि ज्ञानविशेष की वाचक धातु भी बुद्धि शब्द से ली जाती तो इस वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि नेत्रों से होने वाला ज्ञान ही दर्शन है । इस ज्ञापक का फल यह होता है (तेन) कि—‘स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन’ यहाँ ‘देवदत्त’ की कर्म संज्ञा नहीं होती ।

* (वा) शब्दायतेर्न । शब्दाययति देवदत्तेन । धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेना-
कर्मकत्वात्प्राप्तिः । येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेऽत्राकर्मकाः । न
त्वविवक्षितकर्माणोऽपि । तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव ।
देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न ॥

शब्दायतेर्न (वा)—‘शब्दाय’ धातु के कर्त्ता की प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्म
संज्ञा नहीं होती । ‘शब्दाय’ यह नाम धातु है । शब्दं करोति इस अर्थ में शब्द + क्यङ्
(शब्दवैर० ३. १. १७) = शब्दाय । इससे णिच् होकर शब्दाययति बनता है ।

शब्दाययति देवदत्तेन—‘शब्दायते देवदत्तः’ (देवदत्त शब्द करता है) उसको
कोई प्रेरणा देता है ‘शब्दाययति देवदत्तेन’ । यहाँ धातु के अर्थ में शब्द रूपी कर्म
संगृहीत हो गया है अतः यह धातु अकर्मक है और अकर्मक होने के कारण गति० आदि
सूत्र से प्रेरणार्थक के प्रयोग में साधारण दशा के कर्त्ता को कर्म संज्ञा प्राप्त होती है ।
इस वार्तिक से उस कर्म संज्ञा का निषेध हो जाता है तथा ‘देवदत्तेन’ में कर्त्ता में
तृतीया विभक्ति होती है ।

येषामिति—(i) इस सूत्र में अकर्मक धातु वे मानी गई हैं, जिनका देश काल
आदि से भिन्न कर्म सम्भव नहीं* । (ii) जो धातुएँ कर्म की अविवक्षा होने के कारण
अकर्मक हो जाती हैं, वे यहाँ अकर्मक नहीं मानी गई । इसका फल यह होता है—

(i) मासमासयति देवदत्तम्—‘मासमास्ते देवदत्तः’ उसको दूसरा कोई प्रेरणा
देता है—‘मासमासयति देवदत्तम्’—यहाँ ‘आस्’ धातु का यद्यपि ‘मास’ (काल) कर्म
है तथापि वह अकर्मक मानी गई है; क्योंकि ‘आस्’ धातु का देश काल आदि से भिन्न
कर्म नहीं हो सकता । इसलिये इसका साधारण दशा का कर्त्ता ‘देवदत्त’ प्रेरणार्थक के
प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है और उसमें द्वितीया होती है ।

(ii) देवदत्तेन पाचयति—‘देवदत्तः पचति’ यहाँ कर्म अविवक्षित है तथापि
पच् धातु अकर्मक नहीं मानी जाती, अतएव ‘देवदत्तेन पाचयति’ में ‘देवदत्त’ की कर्म
संज्ञा नहीं होती और कर्त्ता में तृतीया हो जाती है ।

टिप्पणी—व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से क्रियायें चार प्रकार से अकर्मक होती
हैं—१. धातु का अन्य अर्थ में प्रयोग होने से, जैसे—‘वहति भारम्’, यहाँ ‘वहति’
‘प्रापण’ (ले जाना) अर्थ में सकर्मक है किन्तु ‘नदी वहति’, यहाँ अन्य अर्थ (स्यन्दन,
बहना) में अकर्मक हो जाती है । २. धातु के अर्थ में कर्म के संगृहीत हो जाने से,
जैसे—‘जीवति’ (प्राणधारण करता है), यहाँ ‘प्राण’ रूप कर्म धातु के अर्थ में ही
संगृहीत हो गया है । ३. कर्म के प्रसिद्ध होने से, जैसे—‘मेघो वर्षति’ यहाँ बरसने का
कर्म (जल) प्रसिद्ध ही है । ४. कर्म को न कहने की इच्छा (अविवक्षा) से; जैसे—
“हितान्न संशृणुते सः किं प्रभुः” यहाँ ‘संशृणुते’ अकर्मक है क्योंकि इसका कर्म
अविवक्षित है । कहा भी है—

* द्रष्टव्य आगे (पृ० १४) टिप्पणी ।

१० । हृकोरन्यतरस्याम् १।४।५३॥

हृकोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम् ॥

* (वा) अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् ॥

अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ॥

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।

प्रसिद्धेरविवक्षात् कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥

(सि० कौ० आत्मनेपपप्रक्रिया)

१०. हृकोरन्यतरस्याम् इति—हृ (ले जाना), कृ (करना) धातुओं का साधारण दशा का जो कर्ता है वह णिजन्त (प्रेरणार्थक) के प्रयोग में विकल्प से कर्म-संज्ञक होता है ।

टिप्पणी—हृ तथा कृ धातु का गति आदि अर्थ वाली धातुओं में अन्तर्भाव नहीं होता अतः यह अप्राप्त-विभाषा है । हृ धातु जहाँ भोजन अर्थ में होती है (=अभ्यवहरति) तथा कृ धातु अकर्मक (विक्रुते), वहाँ यह प्राप्त-विभाषा है । इस प्रकार यह प्राप्ताप्राप्त = उभयत्र विभाषा है ।

कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्—(भृत्य से चटाई बनवाता है)—‘भृत्यः कटं करोति’ (भृत्य चटाई बनाता है) उसे स्वामी प्रेरणा देता है—“कारयति भृत्यं, भृत्येन वा कटम्” (वह नौकर से चटाई बनवाता है)—यहाँ उपर्युक्त नियम से भृत्य की विकल्प से कर्म संज्ञा होती है और द्वितीया हो जाती है । जब कर्म संज्ञा नहीं होती तो कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार ‘हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्, (नौकर से चटाई ढुलवाता है) ।

अभिवादिदृशोरिति (वा)—अभिपूर्वक वद् धातु तथा दृश् धातु का साधारण दशा का कर्ता, णिजन्त के आत्मनेपद के प्रयोग में विकल्प से कर्म हो जाता है ।

अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा (भक्त से देवता को प्रणाम करवाता है) ‘अभिवदति देवं भक्तः’ (देव भक्त को प्रणाम करता है) उसे कोई प्रेरित करता है—‘अभिवादयते देवं भक्तम्, भक्तेन वा’—यहाँ कर्म संज्ञा प्राप्त नहीं थी । उपर्युक्त नियम से ‘भक्त’ की विकल्प से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है । पक्ष में कर्ता में तृतीया होती है । इसी प्रकार “पश्यति देवं भक्तः” “दर्शयते भक्तं देवं भक्तेन वा” यहाँ ‘दृशेच्च’ वार्त्तिक से नित्य कर्म संज्ञा प्राप्त थी । इस वार्त्तिक से विकल्प से कर्म संज्ञा दिखलाई गई है ।

टिप्पणी—अभिवादयते, दर्शयते—यहाँ णिचश्च १/३/७४ से विकल्प से आत्मनेपद होता है । जब आत्मनेपद नहीं होता तब ‘अभिवादयति देवं भक्तेन’ यहाँ कर्ता में तृतीया होती है तथा दर्शयति देवं भक्तम् यहाँ ‘दृशेच्च’ से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

११ । अधिशीङ्स्थासां । १।४।४६॥

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ॥

१२ । अभिनिविशश्च । १।४।४७॥

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । परिक्रयणे संप्रदानम्—१।४।४४ इति सूत्रादिह मण्डूकालुत्याऽन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् ववचिन्न । पापेऽभिनिवेशः ॥

१३ । उपान्वध्याङ्वसः । १।४।४८॥

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः ॥

११. अधिशीङ् इति—अधि उपसर्गपूर्वक शीङ् (सोना), स्था (ठहरना), आस् (बैठना) धातुओं के आधार की कर्म संज्ञा होती है । यहाँ 'आधारोऽधिकरणम् १/४/४५ से 'आधार' शब्द की अनुवृत्ति होती है । इसी प्रकार आगे के दो सूत्रों में भी ।

अधिशेते वैकुण्ठं हरिः—यहाँ वैकुण्ठ अधिशयन का आधार है । इसकी उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः, 'अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः' ।

१२. अभिनिविशश्च—अभि तथा नि उपसर्ग जब दोनों एक साथ इसी क्रम से (संघातरूप) विश् धातु में लगते हैं तब विश् धातु का आधार कर्म-संज्ञक हो जाता है ।

अभिनिविशते सन्मार्गम्—(सन्मार्ग में लगता है) यहाँ 'सन्मार्ग' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर इसमें द्वितीया हो जाती है ।

पापेऽभिनिवेशः—यहाँ 'पाप' अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार है अतः "अभिनिविशश्च" नियम के अनुसार 'पाप' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होनी चाहिये, किन्तु 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' (१।४।४४) सूत्र से मण्डूकप्लुति (मैंढक के समान कूदकर अर्थात् बीच के सूत्रों में न जाकर) से 'अन्यतरस्याम्' (वा, विकल्प से) इस सूत्र में ले लिया जाता है और उस विकल्प (विभाषा) को व्यवस्थित विभाषा (अर्थात् कहीं होना, कहीं नहीं) मानकर कहीं यह नियम (अभिनिविशश्च) नहीं भी लगता । इसी से 'पापेऽभिनिवेशः' में पाप की कर्म संज्ञा तथा द्वितीया नहीं होती अपितु आधार में सप्तमी होती है ।

१३. उपान्वध्याङ्वसः—उप, अनु, अधि, आ उपसर्गपूर्वक वस्—धातु का आधार कर्म हो जाता है ।

उपवसति वैकुण्ठं हरि—(हरि वैकुण्ठ में वसते हैं)—यहाँ वैकुण्ठ उपपूर्वक 'वस्' धातु का आधार है । उपर्युक्त नियम से 'वैकुण्ठ' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया

(वा) अभुक्त्यर्थस्य न ॥

वने उपवसति ॥

(वा) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ॥

द्वितीयाम्नेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् ॥

(वा) अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि ॥

अभितः कृष्णम् परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् । 'तस्य शोच्यते' इत्यर्थः । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ॥

विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'अनुवसति वैकुण्ठं हरिः', 'अधिवसति वैकुण्ठं हरिः', 'आवसति वैकुण्ठं हरिः' ।

अभुक्त्यर्थस्य न (वा)—जब उपपूर्वक 'वस्' धातु का अर्थ 'उपवास करना' (न खाना) होता है तो उसके आधार की कर्म संज्ञा नहीं होती ।

वने उपवसति—(वन में उपवास करता है)—यहाँ उपपूर्वक 'वस्' धातु का प्रयोग है । 'वन' उसका आधार है । 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र के अनुसार यहाँ कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी किन्तु इस वार्तिक के अनुसार उपवास अर्थ होने के कारण 'वन' की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है ।

उपपद द्वितीया विभक्ति—ऊपर जो द्वितीया विभक्ति दिखलाई गई है, वहाँ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' आदि सूत्रों से कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' २।३।२ से कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है । अतः वह 'कारक' विभक्ति है ।

कभी कभी उपपद (= पास में उच्चारण किये गये पद) के निमित्त से भी द्वितीया आदि विभक्तियाँ हुआ करती हैं । वे 'उपपद विभक्ति' कही जाती हैं । उपपद विभक्ति षष्ठी का अपवाद होती है । जैसे—

उभसर्वतसोरिति (वा)—इस वार्तिक में चार वाक्यांश हैं । उनके अर्थ इस प्रकार हैं—(१) उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या—जब उभ और सर्व शब्द से परे 'तस्' प्रत्यय होता है तो उसके योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिये । (२) धिक् शब्दस्य योगे द्वितीया कार्या—धिक् शब्द के योग में द्वितीया, (३) उपर्यादिषु आम्नेडितान्तेषु द्वितीया कार्या—'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' ८।१।७ में कहे हुए तीन शब्द उपरि, अधि तथा अधः हैं । जहाँ द्विरुक्ति होती है वहाँ दूसरे को 'आम्नेडित' कहते हैं । 'उपर्यध्यधसः' सूत्र से सामीप्य अर्थ में उपरि आदि के स्थान में 'उपरि-उपरि' आदि द्विरुक्त प्रयोग का विधान किया गया है । प्रस्तुत नियम से उनके साथ द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये, (४) ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—इनसे अन्य स्थलों पर भी द्वितीया देखी जाती है । क्रमशः उदाहरण ये हैं—

१४। अन्तरान्तरेण युक्ते । २। ३। ४॥

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात् । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरि न सुखम् ॥

(१) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल हैं) — यहाँ उभयतः के योग में उपर्युक्त नियम से 'कृष्ण' शब्द से द्वितीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'सर्वतः कृष्णम्' ।

(२) धिक् कृष्णाभक्तम् (कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है) — यहाँ धिक् शब्द के योग में 'कृष्णाभक्तम्' शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—धिक् के योग में प्रथमा का भी कभी-कभी प्रयोग होता है, जैसे—
धिगियं दरिद्रता (आपटे ३३) ।

(३) उपर्युपरि लोकं हरिः—[हरि लोक के ठीक (समीप) ऊपर हैं] यहाँ उपर्युक्त नियम से 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'अध्यधि लोकम्'—(संसार के समीप देश में) तथा 'अधोऽधो लोकम्' (संसार के ठीक नीचे) में 'लोक', शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है ।

(४) 'अभितः इति (वा)—अभितः (दोनों ओर, सब ओर) परितः (चारों ओर, सब ओर) समया, निकषा (समीप), हा (हाय), प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है (अन्यत्रापि दृश्यते की व्याख्या मात्र ही यह वार्तिक है) ।

अभितः कृष्णम् (कृष्ण के दोनों ओर)—यहाँ अभितः के योग में कृष्ण शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'परितः कृष्णम्, (कृष्ण के चारों ओर या सब ओर) 'ग्रामं समया' (ग्राम के समीप), 'निकषा लङ्काम्', (लङ्का के निकट), 'हा कृष्णाभक्तम्' (हाय कृष्ण का अभक्त) वह शोचनीय है, यह अर्थ है । "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्" (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता) इन सभी के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१४ अन्तराऽन्तरेण युक्ते—(अन्तरा का अर्थ है—'बीच में 'मध्य में' । अन्तरेण का अर्थ है—'मध्य में 'विषय में' विना' । अन्तरा तथा अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

अन्तरा त्वां मां हरिः (तेरे और मेरे मध्य में हरि है)—यहाँ अन्तरा के योग में 'त्वाम्' और 'माम्' शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है ।

अन्तरेण हरि न सुखम् (हरि के विना सुख नहीं)—यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'देवीं वसुमतीमन्तरेण' (देवी वसुमती के विषय में) (काले ८०४), 'कोऽन्यस्त्वामन्तरेण शक्तः प्रतिकर्तुम् । (तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन प्रतिकार में समर्थ है)—(आपटे २५), इन सभी प्रयोगों में 'अन्तरेण के योग में 'हरिम्' आदि में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१५। कर्मप्रवचनीयाः । १।४।८३॥

इत्यधिकृत्य ॥

१६। अनुर्लक्षणे । १।४।८४॥

लक्षणे द्योत्येऽनुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

१७। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८५॥

१५. कर्मप्रवचनीयाः इति—इसका अधिकार करके—कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार सूत्र है। आगे 'विभाषा कृजि' १।४।८३॥ तक के सूत्रों में इस पद का सम्बन्ध होता है।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। जो पहिले क्रिया को कह चुके हैं 'कर्म कियां प्रोक्तवन्तः' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं। उपसर्ग अवस्था में ये क्रिया के अर्थ के द्योतक होते थे। क्रिया के पहले ही इनका प्रयोग होता था किन्तु अब क्रिया से पृथक् स्वतन्त्र रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है ये क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होते हैं, न किसी क्रिया पद का आक्षेप ही कराते हैं किन्तु (वाक्यस्थ पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं*। अर्थात् विभक्ति-निधान के निमित्त होते हैं।

१६. अनुर्लक्षणे—किसी लक्षण को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिससे कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं—'लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्'। यहाँ हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है अर्थात् लक्षण अर्थ में अनु की गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१७. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया—कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्—इसका अर्थ है—हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई। यहाँ हेतु और ज्ञापकता (लक्षण) दोनों द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं। उपर्युक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

परापि हेतौ तृतीयेति—यद्यपि हेतौ—३७' सूत्र से होने वाली तृतीया इससे परे है और पाणिनि व्याकरण में दो तुल्य कार्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है*। तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में द्वितीया ही होती है, क्योंकि २१

*क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥ (वाक्यपदीय)

*विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

१४। अन्तरान्तरेण युक्ते । २।३।४॥

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात् । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ॥

(१) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल हैं)—यहाँ उभयतः के योग में उपर्युक्त नियम से 'कृष्ण' शब्द से द्वितीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'सर्वतः कृष्णम्' ।

(२) धिक् कृष्णाभक्तम् (कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है)—यहाँ धिक् शब्द के योग में 'कृष्णाभक्तम्' शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—धिक् के योग में प्रथमा का भी कभी-कभी प्रयोग होता है, जैसे—
ध्रिगियं दरिद्रता (आपटे ३३) ।

(३) उपर्युपरि लोकं हरिः—[हरि लोक के ठीक (समीप) ऊपर हैं] यहाँ उपर्युक्त नियम से 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'अध्यधि लोकम्'—(संसार के समीप देश में) तथा 'अधोऽधो लोकम्' (संसार के ठीक नीचे) में 'लोक', शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है ।

(४) 'अभितः इति (वा)—अभितः (दोनों ओर, सब ओर) परितः (चारों ओर, सब ओर) समया, निकषा (समीप), हा (हाय), प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है (अन्यत्रापि दृश्यते की व्याख्या मात्र ही यह वार्त्तिक है) ।

अभितः कृष्णम् (कृष्ण के दोनों ओर)—यहाँ अभितः के योग में कृष्ण शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'परितः कृष्णम्, (कृष्ण के चारों ओर या सब ओर) 'ग्रामं समया' (ग्राम के समीप), 'निकषा लङ्काम्', (लङ्का के निकट), 'हा कृष्णाभक्तम्' (हाय कृष्ण का अभक्त) वह शोचनीय है, यह अर्थ है । "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्" (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता) इन सभी के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१४ अन्तराऽन्तरेण युक्ते—(अन्तरा का अर्थ है—'बीच में' 'मध्य में' । अन्तरेण का अर्थ है—'मध्य में' 'विषय में' 'विना' । अन्तरा तथा अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

अन्तरा त्वां मां हरिः (तेरे और मेरे मध्य में हरि है)—यहाँ अन्तरा के योग में 'त्वाम्' और 'माम्' शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है ।

अन्तरेण हरिं न सुखम् (हरि के विना सुख नहीं)—यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'देवीं वसुमतीमन्तरेण' (देवी वसुमती के विषय में) (काले ८०४), 'कोऽन्यस्त्वामन्तरेण शक्तः प्रतिकर्तुम् । (तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन प्रतिकार में समर्थ है)—(आपटे २५), इन सभी प्रयोगों में 'अन्तरेण के योग में 'हरिम्' आदि में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१५। कर्मप्रवचनीयाः । १।४।८३॥

इत्यधिकृत्य ॥

१६। अनुर्लक्षणे । १।४।८४॥

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

१७। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८५॥

१५. कर्मप्रवचनीयाः इति—इसका अधिकार करके—कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार सूत्र है। आगे 'विभाषा कृञि' १।४।८३॥ तक के सूत्रों में इस पद का सम्बन्ध होता है।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। जो पहिले क्रिया को कह चुके हैं 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं। उपसर्ग अवस्था में ये क्रिया के अर्थ के द्योतक होते थे। क्रिया के पहले ही इनका प्रयोग होता था किन्तु अब क्रिया से पृथक् स्वतन्त्र रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है ये क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होते हैं, न किसी क्रिया पद का आक्षेप ही कराते हैं किन्तु (वाक्यस्थ पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं*। अर्थात् विभक्ति-विधान के निमित्त होते हैं।

१६. अनुर्लक्षणे—किसी लक्षण को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिससे कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं—'लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्'। यहाँ हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है अर्थात् लक्षण अर्थ में अनु की गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१७. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया—कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्—इसका अर्थ है—हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई। यहाँ हेतु और ज्ञापकता (लक्षण) दोनों द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं। उपर्युक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

परापि हेतौ तृतीयेति—यद्यपि हेतौ—३७' सूत्र से होने वाली तृतीया इससे परे है और पाणिनि व्याकरण में दो तुल्य कार्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है*। तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में द्वितीया ही होती है, क्योंकि २१

*क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥ (वाक्यपदीय)

*विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

एतेन योगे द्वितीया स्यात् । पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपो
लक्षितं वर्षणमित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाऽनेन बाध्यते । लक्षणेत्यंभूत-
२१, इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

१८ । तृतीयार्थे १।४।८५॥

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सम्बद्धेत्यर्थः ॥ षिञ् बन्धने क्तः ॥

१९ । हीने १।४।८६॥

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरि सुराः हरेर्हीना इत्यर्थः ॥

२० । उपोऽधिके च १।४।८७॥

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्रावसंज्ञं स्यात् । अधिके सप्तमी
वक्ष्यते । हीने, उप हरि सुराः ॥

‘लक्षणेत्यं १।४।९०। से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर १६ ‘अनुलक्षणे
१।४।८४। से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा कहने की क्या आवश्यकता थी । यह
संज्ञा इसलिये की गई है कि लक्षण द्योतित करने में द्वितीया ही होनी चाहिये, तृतीया
नहीं ।

१८. तृतीयार्थे—जब ‘अनु’ तृतीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता
है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

नदीमन्ववसिता सेना—इसका अर्थ है—“सेना नदी के साथ सम्बद्ध है ।
‘नदीम् अनु अवसिता’ में ‘अवसित’ शब्द अव उपसर्ग पूर्वक षिञ् बन्धने धातु से ‘क्त’
प्रत्यय होकर बना है अतः ‘सम्बद्ध’ अर्थ होता है । यहाँ ऊपर के नियम से ‘अनु’ की
कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में ‘नदीम्’ में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

१९. हीने—हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है
अनु हरि सुराः—इसका अर्थ है देवलोग हरि से हीन हैं (घटकर हैं) । यहाँ
अनु हीन अर्थ को द्योतित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और
इसके योग में (सूत्र १७ से) ‘हरि’ शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । जिस शब्द में
द्वितीया होती है उससे भिन्न पदार्थ की हीनता प्रकट हुआ करती है । यहाँ हरि की
अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है ।

२० उपोऽधिके च—अधिक या हीन का अर्थ द्योतित करने में ‘उप’ की
कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । जब वह ‘अधिक’ अर्थ को द्योतित करता है तो सप्तमी
होती है, यह आगे कहा जायेगा ।

उप हरि सुराः—(देवता हरि से घटकर हैं)—यहाँ हीन अर्थ को द्योतित
करने में ‘उप’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में ‘हरि’ से द्वितीया
विभक्ति होती है ।

भूतजपोप २१ । लक्षणेत्थं भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः १।४।६॥

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे, वृक्षं प्रति पर्यनु
वा विद्योतते विद्युत् । इत्थं भूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा । भागे,
लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा । हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्, वृक्षं वृक्ष प्रति पर्यनु
नद्या सह सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावात्त पत्वम् । एषु किम् ? परिषिञ्चति ॥

२१. लक्षणेत्थम् इति—लक्षण आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्म-
प्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्—(वृक्ष की ओर बिजली चमकती है)—यहाँ
वृक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता है । यह लक्षण (ज्ञापक) है । 'प्रति' लक्षण
के प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्त नियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके
योग में 'वृक्ष' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'वृक्षं परि, वृक्षम् अनु
विद्योतते विद्युत्' ।

अनुलक्षणं
थी । यह
तृतीया
करता
है ।
से 'क्त'
अनु की
है ।
होती है ।
। यहाँ
है और
शब्द में
रि की
प' की
पत्तमी
गेतित
तीया

भक्तो विष्णुं प्रति (विष्णु के प्रति भक्त है)—यह इत्थं भूताख्यान का उदाहरण
है । 'इत्थं' का अर्थ है—इस प्रकार । इत्थंभूतः—इस प्रकार का हुआ । जहाँ 'यह
इस प्रकार का है' इसका आख्यान (कथन) किया जाता है वहाँ 'प्रति' आदि की
कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है । इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय
संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'भक्तो
विष्णुं परि', भक्तो विष्णुम् अनु' ।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति—इसका अर्थ है—लक्ष्मी हरि भाग रहा । यहाँ लक्ष्मी के
प्रति हरि का स्वामित्व 'प्रति' आदि से द्योतित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त
नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से
द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु' ।

वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)—यह वीप्सा का
उदाहरण है । वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तुमिच्छा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु
से सम्बन्ध करने की इच्छा । यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा
हो जाती है अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती । उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति
सिञ्चति' यहाँ 'स्' को 'प्' नहीं होता । उपसर्ग से परे होने पर ही "उपसर्गात्
सुनोति० ८।२।६५ सूत्र से पत्व होता है । यहाँ वृक्षं में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही
होता है । इसी प्रकार 'वृक्षं वृक्षं परि-सिञ्चति' वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति ।

एषु किमिति—'लक्षण' आदि चार अर्थों के विषय में ही प्रति आदि की कर्म
प्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि इनसे भिन्न अर्थ में, नहीं
होती, अतएव 'परिषिञ्चति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्म-
प्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'स्' को 'प्' हो जाता है ।

एतेन योगे द्वितीया स्यात् । पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोप-
लक्षितं वर्षणमित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाऽनेन बाध्यते । लक्षणेत्यंभूत—
२१, इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

१८ । तृतीयार्थे १।४।८५॥

अस्मिन् द्योत्येऽनुरक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह
संबद्धेत्यर्थः ॥ षिञ् बन्धने क्तः ॥

१९ । हीने १।४।८६॥

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरि सुराः हरेर्हीना इत्यर्थः ॥

२० । उपोऽधिके च १।४।८७॥

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्रावसंज्ञं स्यात् । अधिके सप्तमी
वक्ष्यते । हीने, उप हरि सुराः ॥

‘लक्षणेत्यं १।४।८०। से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर १६ ‘अनुलक्षणे
१।४।८४। से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा कहने की क्या आवश्यकता थी । यह
संज्ञा इसलिये की गई है कि लक्षण द्योतित करने में द्वितीया ही होनी चाहिये, तृतीया
नहीं ।

१८. तृतीयार्थे—जब ‘अनु’ तृतीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता
है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

नदीमन्ववसिता सेना—इसका अर्थ है—‘‘सेना नदी के साथ सम्बद्ध है ।’
‘नदीम् अनु अवसिता’ में ‘अवसित’ शब्द अव उपसर्ग पूर्वक षिञ् बन्धने धातु से ‘क्त’
प्रत्यय होकर बना है अतः ‘सम्बद्ध’ अर्थ होता है । यहाँ ऊपर के नियम से ‘अनु’ की
कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में ‘नदीम्’ में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

१९. हीने—हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अनु हरि सुराः—इसका अर्थ है देवलोग हरि से हीन हैं (घटकर हैं) । यहाँ
अनु हीन अर्थ को द्योतित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और
इसके योग में (सूत्र १७ से) ‘हरि’ शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । जिस शब्द में
द्वितीया होती है उससे भिन्न पदार्थ की हीनता प्रकट हुआ करती है । यहाँ हरि की
अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है ।

२० उपोऽधिके च—अधिक या हीन का अर्थ द्योतित करने में ‘उप’ की
कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । जब वह ‘अधिक’ अर्थ को द्योतित करता है तो सप्तमी
होती है, यह आगे कहा जायेगा ।

उप हरि सुराः—(देवता हरि से घटकर हैं)—यहाँ हीन अर्थ को द्योतित
करने में ‘उप’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में ‘हरि’ से द्वितीया
विभक्ति होती है ।

२१ । लक्षण

एष्व

वा विद्योतते

लक्ष्मीर्हरि

वा सिञ्चति

२१

प्रवचनीय सं

(१

वृक्ष बिजली

को प्रकट क

योग में ‘वृक्ष

विद्योतते वि

भ

है । ‘इत्थं’

इस प्रकार

कर्मप्रवचनी

संज्ञा होकर

विष्णुं परि

ल

प्रति हरि

नियम से

द्वितीया वि

वृ

उदाहरण

से सम्बन्ध

हो जाती

सिञ्चति

सुनोति०

होता है ।

प्रवचनीय

होती, अ

प्रवचनीय

२१ । लक्षणेत्थं भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः १।४।६॥

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे, वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थं भूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा । भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा । हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायां, वृक्षं वृक्ष प्रति पर्यनु वा सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावात्त पत्वम् । एषु किम् ? परिषिञ्चति ॥

२१. लक्षणेत्थम् इति—लक्षण आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्—(वृक्ष की ओर बिजली चमकती है)—यहाँ वृक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता है । यह लक्षण (ज्ञापक) है । 'प्रति' लक्षण को प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्त नियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'वृक्ष' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'वृक्षं परि, वृक्षम् अनु विद्योतते विद्युत्' ।

भक्तो विष्णुं प्रति (विष्णु के प्रति भक्त है)—यह इत्थं भूताख्यान का उदाहरण है । 'इत्थं' का अर्थ है—इस प्रकार । इत्थंभूतः—इस प्रकार का हुआ । जहाँ 'यह इस प्रकार का है' इसका आख्यान (कथन) किया जाता है वहाँ 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है । इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'भक्तो विष्णुं परि', भक्तो विष्णुम् अनु' ।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति—इसका अर्थ है—लक्ष्मी हरि भाग रहा । यहाँ लक्ष्मी के प्रति हरि का स्वामित्व 'प्रति' आदि से द्योतित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु' ।

वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)—यह वीप्सा का उदाहरण है । वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तुमिच्छा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा । यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती । उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति सिञ्चति' यहाँ 'स्' को 'प्' नहीं होता । उपसर्ग से परे होने पर ही "उपसर्गात् सुनोति० ८।२।६५। सूत्र से पत्व होता है । यहाँ वृक्ष में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही होता है । इसी प्रकार 'वृक्षं वृक्षं परि-सिञ्चति' वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति ।

एषु किमिति—'लक्षण' आदि चार अर्थों के विषय में ही प्रति आदि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि इनसे भिन्न अर्थ में, नहीं होती, अतएव 'परिषिञ्चति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'स्' को 'प्' हो जाता है ।

२२ । अभिरभागे । १।४।६१॥

भागवर्जं लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो हरि-
मभि । देवं देवमभिसिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिष्यात्तदीयताम् ॥

२३ । अधिपरी अनर्थको । १।४।६३॥

उक्तसंज्ञी स्तः कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात्
'गतिर्गतौ' ८।१।७०। इति निघातो न ॥

२४ । सुः पूजायाम् । १।४।६४॥

सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्त्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिक्वत्
किं तवात्र । क्षेपोऽयम् ॥

२२. अभिरभागे—भाग को छोड़कर ऊपर कहे हुए शेष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

(१) हरिमभि वर्तते—(लक्षण) (२) भक्तो हरिमभि (इत्थंभूताख्यान) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है ।

(३) देवं देवमभिसिञ्चति (वीप्सा) । यहाँ 'स्' को ष नहीं होता ।

अभागे किमिति—भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती । इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिये) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' के स् को ष हो जाता है (उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यचपरः ८।३।४७।)

२३. अधिपरी अनर्थको—अनर्थक अधि और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

कुतोऽध्यागच्छति—(वह कहाँ से आता है ?)—यहाँ 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से 'गति' संज्ञा नहीं होती । गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) गतिर्गतौ ८।१।७० इस सूत्र से 'अधि' को आ (अधि—आ + गच्छति) परे होने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता । आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है ।

टिप्पणी—'निघात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना) ।

२४. सुः पूजायाम्—पूजा अर्थ में सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सुसिक्तम्—'भली भाँति सींचा है' इसी हेतु कर्त्ता में पूज्यता है । यहाँ 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को ष नहीं होता । इसी प्रकार 'सुस्तुतम्' ।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । ऐसा क्यों ? इसलिये कि "सुषिक्वत् किं स्यात् तवात्र" यहाँ क्षेप (निन्दा) का भाव निकलता

२५ । अतिरतिक्रमणे च । १।४।६५॥

अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ॥

२६ । अपिः पदार्थसंभावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु । १।४।६६॥

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वात् षः । संभावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन संबध्यते । सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसंबन्धे । इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थ-द्योतकता नाम । द्वितीया तु नेह प्रवर्तते । सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्यु-क्तत्वात् । अपि स्तुयाद्विष्णुम्; संभावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कृतुं मत्युक्तिः । अपि

है अतः 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उपसर्ग संज्ञा ही हो जाती है । उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सुषिक्त' में 'स्' को 'ष्' हो जाता है ।

२५. अतिरतिक्रमणे च—अतिक्रमण का अर्थ है—बढ़कर होना अथवा सीमा को लांघना । अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं) । उपर्युक्त नियम से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

२६. अपिः पदार्थ इति—पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय इन अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सर्पिषोऽपि स्यात्—(घृत का बिन्दु भी हो)—यह पदार्थ का उदाहरण है । पदार्थ का तात्पर्य है पद का अर्थ । यहाँ 'अपि' अप्रयुक्त पद के अर्थ को द्योतित करता है । सर्पिषोऽपि स्यात् का अर्थ है—“सर्पिबिन्दुः स्यात्” । अपि बिन्दु का द्योतक है । इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा 'स्यात्' के स् को ष नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्ग से परे ही हो सकता था ।

संभावनायां लिङ् इति—सर्पिषोऽपि स्यात् में स्यात् शब्द अस् धातु से लिङ् लकार में बना है । यहाँ संभावना अर्थ में लिङ् लकार है । 'किस की संभावना' ? इस आकांक्षा में अस् धातु का अर्थ 'होना' (भवन या सत्ता) अस् (मुवि, भू सत्तायाम्) उस संभावना का विषय हो जाता है अर्थात् होने की संभावना है । तब होना (भवन) के कर्त्ता (बिन्दु) को 'अपि' द्योतित करता है और कर्त्ता की दुर्लभता के कारण 'होना' क्रिया की दुर्लभता को भी द्योतित करता है तथा उस (अपि) का अन्वय 'स्यात्' से हो जाता है । यहाँ 'अपि' से बिन्दु अर्थ गम्यमान है । सर्पिस् (घृत) से बिन्दु का “अवयवावयविभाव” सम्बन्ध है अर्थात् सर्पिस् अवयवी है और बिन्दु अवयव है,

१. उपसर्गात् सुनोति० ८।३।६५॥

स्तुहि, अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा । धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्, गर्हा ।
अपि सिञ्च, अपि स्तुहि; समुच्चये ॥

२७ । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २।३।५॥

इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं
कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य
द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ॥ इति द्वितीया ।

इसी हेतु 'सपिषः' में षष्ठी विभक्ति है । यही अपि की पदार्थ-द्योतकता है । यहाँ अपि
(कर्मप्रवचनीय) के योग में 'सपिस्' शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, क्योंकि
'सपिस्' का बिन्दु से सम्बन्ध है 'अपि' से नहीं, यह कहा जा चुका है ।

अपि स्तुयाद्विष्णुम् (क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा ?) — यह सम्भावना का
उदाहरण है । सम्भावना का अर्थ है—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये
अत्युक्ति करना । यहाँ भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती और
'स्तुयात्' के 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात् ०८।३।६५) नहीं होता ।

अपि स्तुहि (अच्छा स्तुति करो अथवा नहीं) — यह अन्ववसर्ग का उदाहरण
है । अन्ववसर्ग का अर्थ है—यथेष्ट कार्य करने की अनुमति देना । यहाँ कर्मप्रवचनीय
संज्ञा का फल है—उपसर्ग संज्ञा का बाध हो जाना तथा स् को ष न होना ।

धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् (देवदत्त को धिक्कार है, वह शूद्र की स्तुति
करता है) — यहाँ गर्हा अर्थ 'अपि' द्वारा द्योतित किया गया है । गर्हा का अर्थ है—
निन्दा । कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से (उपसर्गात् ०८।३।६५) षत्व नहीं होता ।

अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सीचो भी स्तुति भी करो) — यहाँ अपि द्वारा
समुच्चय द्योतित किया गया है । कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात् ०
८।३।६५) नहीं होता ।

२७. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे — अत्यन्त संयोग में समयवाची तथा मार्गवाची
से द्वितीया विभक्ति होती है । अत्यन्तसंयोग का अर्थ है—निरन्तर संयोग । किसी
गुण, क्रिया या द्रव्य का किसी काल या मार्ग में पूर्ण रूप से रहना ।

मास कल्याणी (मास भर कल्याणकारिणी है) यहाँ कल्याण (गुण) मास भर
में लगातार रहता है—अतः उपर्युक्त नियम से मास (कालवाचक) में द्वितीया विभक्ति
होती है । इसी प्रकार—

क्रोशं कुटिला नदी—(कोस भर तक नदी टेढ़ी है) यहाँ मार्गवाची 'क्रोश'
से भी द्वितीया होती है ।

मासमधीते (मास भर पढ़ता है) — यहाँ अध्ययन क्रिया मास भर लगातार
चलती है अतः मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार मार्गवाचक क्रोश
शब्द से भी 'क्रोशमधीते' में द्वितीया होती है ।

२८ । स्वतन्त्रः कर्त्ता १।४।५४॥

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ॥

२९ । साधकतमं करणम् १।४।४२ ।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमब्रह्मणं किम् ?
गङ्गायां घोषः ॥

मासं गुडधानाः (मास भर गुडधान हैं) — यहाँ गुडधान (द्रव्य) मास भर लगातार चलते हैं अतः अत्यन्तसंयोग में मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'क्रोशं गिरिः' में भी ।

अत्यन्तसंयोगे किम् — यदि गुण क्रिया और द्रव्य का कालवाचक या मार्गवाचक से लगातार सम्बन्ध (अत्यन्तसंयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि कालवाची या मार्गवाची के एक अंश से गुण आदि का सम्बन्ध होगा तो द्वितीया विभक्ति न होगी । जैसे — मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पड़ता है) यहाँ अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं अतः मास से द्वितीया विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध में पष्ठी विभक्ति ही होती है । इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' में भी । ॥ इति द्वितीया ॥

तृतीया विभक्ति । २८ स्वतन्त्रः कर्त्ता — क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित पदार्थ कर्त्ता कहलाता है ।

कारक विवक्षा के अधीन हैं, नियत नहीं — 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति', अतः क्रिया का जो आश्रय है उसे ही कर्त्ता कहते हैं, चाहे वह जड़ हो या चेतन । जैसे — 'देवदत्तस्तिष्ठति, वृक्षस्तिष्ठति' ।

२९. साधकतमं करणम् — क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक सहायक होता है उसकी करण संज्ञा होती है ।

साधकतम शब्द का अर्थ है — प्रकृष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक । जिस पदार्थ के व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वही प्रकृष्ट उपकारक है उसकी करण संज्ञा होती है ।

तमब्रह्मणं किमिति — 'साधकं करणम्', ऐसा ही कह देते, कारक का प्रकरण है ही और कारक और साधक पर्याय हैं अतः पुनः साधक ग्रहण से प्रकृष्ट साधक, यह समझ लिया जाता — फिर प्रकृष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय क्यों लगाया ? इसलिये — तमप् ग्रहण करने से यह विदित होता है कि इस कारक प्रकरण में अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्राप्त हुआ विशेष अर्थ नहीं लिया जाता । इस ज्ञापन का फल यह होता है कि 'आधारोऽधिकरणम्' से आधार मात्र की अधिकरण संज्ञा हो जाती है । केवल विशेष आधार की ही नहीं । अतः 'गङ्गायां घोषः' — (गङ्गा के तट पर घोसी रहते हैं) यहाँ भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हो जाती है । अन्यथा 'तिलेषु तैलम्' आदि में जहाँ पूर्णतया व्यापक आधार है वहीं सप्तमी होती ।

३० । कर्तृकरणयोस्तृतीया । २।३।१८।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो वाली ।

* (व) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् ॥

प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनेति । विषमेनेति ।
द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥

३१ । दिवः कर्म च । १।४।४३॥

३० कर्तृकरणयोरिति—अनुक्त कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है ।

जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है वहाँ कर्त्ता अनुक्त होता है; जैसे—“लक्ष्म्या सेव्यते” । अतः यहाँ ‘लक्ष्म्या’ में तृतीया विभक्ति है ।

रामेण बाणेन हतो वाली—यहाँ ‘हतः’ में कर्मवाच्य में ‘क्त’ प्रत्यय हुआ है, राम का कर्त्तापन अनुक्त है; अतः राम से उपर्युक्त नियम से तृतीया हो जाती है । मारने का प्रकृष्ट साधन बाण है इसकी ‘साधकतमं करणम्’ से करण संज्ञा होकर इसमें भी तृतीया विभक्ति होती है ।

प्रकृत्यादिभ्य इति (वा)—प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है ।

प्रकृत्या चारुः (स्वभाव से सुन्दर)—यहाँ प्रकृति शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः याज्ञिक है) गोत्रेण गार्ग्यः (गोत्र से गार्ग्य है), समेनेति (समगति से चलता है), विषमेनेति (विषम चलता है) आदि में भी तृतीया विभक्ति होती है । ये शब्द प्रायः क्रियाविशेषण हैं । क्रियाविशेषण में द्वितीया प्राप्त थी । कहीं-कहीं ये करण के अर्थ को भी प्रकट करते हैं । जहाँ ये करण होते हैं वहाँ तो करण में तृतीया हो जाती है ।

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (दो द्रोण सम्बन्धी अन्न खरीदता है)—यहाँ “दो द्रोण सम्बन्धी धान्य” इस अर्थ में षष्ठी प्राप्त थी, उपर्युक्त नियम से तृतीया विभक्ति होती है ।

सुखेन दुःखेन वा याति (सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक जाता है)—यहाँ ‘सुख’ आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति हुआ करती है उसके स्थान पर उपर्युक्त (प्रकृत्यादिभ्यः) नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है ।

टिप्पणी—‘प्रकृति’ आदि गण आकृति गण है अर्थात् इस प्रकार की तृतीया गणपाठ में अपठित शब्दों में भी देखी जाती है, इसलिये “नाम्ना सुतीक्ष्णः” “चरितेन दान्तः” यहाँ भी तृतीया होती है ।

३१ दिवः कर्म च—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी ।

अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति—(पासों से खेलता है)—यहाँ अक्ष (पासे) जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर तृतीया ही होनी चाहिये थी । इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है ।

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम् । अक्षरक्षान्वा
दीव्यति ॥

३२ । अपवर्गे तृतीया । २।३।६॥

अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया
स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ॥

३३ । सहयुक्तेऽप्रधाने च । २।३।१६॥

३२ अपवर्ग इति—अपवर्ग का अर्थ है—फल-प्राप्ति । फल-प्राप्ति या कार्य-
सिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त-संयोग में
तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' । २।३।१६। सूत्र का
सम्बन्ध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है । यह तृतीया विभक्ति द्वितीया का
बाधक है ।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः—(दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य
करके अनुवाक पढ़ लिया)—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस
कालवाची या मार्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । यदि दिन भर में अनुवाक
नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् (दिन) शब्द से तृतीया
विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी । इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं
श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहियें ।

अपवर्गे किमिति—'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यदि
निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची
से तृतीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे) द्वितीया
ही होती है । जैसे—मासमधीतो नायातः—'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया
नहीं ।' यहाँ मास में द्वितीया ही होती है ।

३३ सहयुक्तेऽप्रधाने—साथ (सह) के अर्थ के योग में अप्रधान (अर्थात् वाक्य
के प्रधान कर्त्ता का साथ देने वाले) के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है ।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)—यहाँ आगमन क्रिया का
मुख्य सम्बन्ध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्त्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र
शब्द से तृतीया होती है । इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योग में भी तृतीया
होती है । जैसे—आस्व साकं मया सौधे (भट्टि० ८/७०), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः
(रघु० १४. ६३), आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु० १. २७) (देखिये
काले सेक्शन ८१८) ।

विनापीति—यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट
होता हो तो भी तृतीया विभक्ति होती है । स्वयं आचार्य पाणिनि ने "बृद्धो"

सहार्थेन युक्ते-अप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं-सार्धं-समंयोगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया । 'वृद्धो यूना । १।२।६५' । इत्यादिनिर्देशात् ॥

३४ । येनाङ्गविकारः । २।३।२०॥

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्षणा काणः । अक्षिसंबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ? अक्षिकाणमस्य ॥

३५ । इत्थंभूतलक्षणे । २।३।२१॥

कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटा-ज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥

३६ । संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि । २।३।२२॥

यूना (१।२।६५) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द से तृतीया का प्रयोग किया है इसी प्रयोग से यह ज्ञात होता है ।

३४ येनाङ्गविकारः—जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्गवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

अक्षणा काणः—(आँख का काना या आँख से काना) यहाँ आँख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है, अतः आँखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है । 'आँख सम्बन्धी कानेपन से युक्त है, यह अर्थ होता है । इसी प्रकार 'पादेन खञ्जः' 'शिरसा खल्वाटः' 'कर्णेन बधिरः' आदि ।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है ? यहाँ 'अङ्ग' शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः—अर्श आदिभ्योऽच् अतएव जहाँ अङ्ग के विकार से अङ्गी का विकार लक्षित होता है वहीं अङ्गवाची से तृतीया होती है । 'अक्षि काणमस्य' में आँख का कानापन ही कहा गया है । इससे किसी व्यक्ति का कानापन लक्षित नहीं होता अतः यहाँ अक्षि शब्द से तृतीया विभक्ति नहीं होती ।

३५. इत्थंभूतलक्षणे—इत्थंभूत शब्द का अर्थ है—इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ । किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है ।

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी) जिस व्यक्ति का तपस्वी होना जटाओं से लक्षित होता है उसके लिये यह प्रयोग है । यहाँ जटा तपस्वीपन का ज्ञापक (लक्षण) है । इससे उपर्युक्त नियमानुसार तृतीया विभक्ति होती है । जटाओं से लक्षित तपस्वीपन । से युक्त है । यह अर्थ होता है ।

३६. संज्ञोऽन्यतरस्यामिति—सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है । पक्ष में द्वितीया होती है ।

संपूर्वरय जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा संजानीते ॥
३७ । हेतौ । २।३।२३॥

हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम् ।
करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः । पुण्येन दृष्टो हरिः ।
फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ
प्रयोजिका । अलं श्रमेण । श्रमेण । साध्यं नास्तीत्यर्थः । साधनक्रियां प्रति श्रमः
करणम् । शतेन शतेन वत्सान्पाययति पयः । शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः ॥

* (वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया ॥ दास्या संयच्छते
कामुकः । धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति ॥ इति तृतीया ॥

पित्रा पितरं वा संजानीते (पिता को सम्यक् जानता है) — यहाँ कर्म होने से केवल द्वितीया प्राप्त थी । उपर्युक्त नियम से विकल्प से तृतीया होकर 'पित्रा' प्रयोग भी होता है ।

३७. हेतौ — कारणवाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ।

करण और हेतु में भेद है; अतः इस सूत्र से हेतु में तृतीया कही गई है 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से करण में । हेतु और करण में भेद यह है कि हेतु साधारणतया द्रव्य, गुण और क्रिया सभी का जनक हो सकता है, उसमें कोई व्यापार हो या न हो । किन्तु करण क्रिया का ही निमित्त होता है और उसमें नियत रूप से क्रिया का साधक व्यापार रहता है । उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी । 'वाणेन हतः वाली' इस उदाहरण में वाण करण है । इसमें 'हनन' क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है । दूसरी ओर—

दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा) — यहाँ दण्ड में व्यापार [तो है किन्तु यह घट (द्रव्य) का हेतु है क्रिया का जनक नहीं अतः करण नहीं ।

पुण्येन दृष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ) — यहाँ पुण्य हरिदर्शन (क्रिया) का हेतु है किन्तु इसमें व्यापार नहीं अतः यह करण नहीं है । यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति होती है ।

'फलमपीह' इति — यहाँ फल या प्रयोजन का भी हेतु शब्द से ग्रहण किया जाता है । इसलिये 'अध्ययनेन वसति' (अध्ययन करने के प्रयोजन से रहता है) यहाँ अध्ययन शब्द से हेतु में तृतीया विभक्ति होती है ।

गम्यमाना इति — यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो और वह गम्यमान हो अर्थात् उसका अर्थ निकलता हो तो भी वह कारक विभक्ति में प्रयोजिका होती है । जैसे

अलं श्रमेण — (श्रम से बस करो) इसका अर्थ है — 'श्रमेण साध्यं नास्ति । 'श्रम' यहाँ साधन क्रिया के प्रति करण है । साधन क्रिया वाक्य में प्रयुक्त नहीं अपितु

३८ । कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् । १।४.३२ ॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः स्यात् ।

३९ । चतुर्थी संप्रदाने । १।३।१३ ॥

विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दानीयो विप्रः ॥ * (वा) क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् । पत्ये शेते ॥ * (वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ पशुना रुद्रं यजते । पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ॥

अध्याहार से जानी जाती है अर्थात् गम्यमान है । अतः 'श्रम' से तृतीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—यह भी कहा जा सकता है कि निषेधार्थक अलम्, कृतम् आदि के योग में तृतीया विभक्ति होती है—अलं कृतं वा श्रमेण ।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति—इसका अर्थ है शतेन परिच्छिद्य, सौ-सौ करके बछड़ों को (दूध) पिलाता है । यहाँ भी परिच्छिद्य क्रिया गम्यमान है । इसके प्रति 'शत' करण है । अतएव 'शतेन' में तृतीया विभक्ति होती है ।

अशिष्टव्यवहार इति (वा)—अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है ।

दास्या संयच्छते कामुकः—(कामुक दासी को देता है)—यहाँ 'दास्या' में उपर्युक्त नियम से तृतीया विभक्ति हो जाती है । चतुर्थी प्राप्त थी । कामुकता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है । संयच्छते में दाण् धातु को यच्छ् आदेश हुआ है ।

भार्यायै संयच्छति—अशिष्ट व्यवहार में ही चतुर्थी के स्थान पर यह तृतीया होगी । अतएव 'भार्यायै' में चतुर्थी होती है । ॥ इति तृतीया ॥

चतुर्थी विभक्ति । ३८. कर्मणा इति—दान के कर्म द्वारा कर्त्ता जिसे उद्देश्य बनाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

सम्प्रदान अन्वर्थ संज्ञा है—सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्—जिसे कुछ वस्तु दी जाती है वह सम्प्रदान कहलाता है ।

३९. चतुर्थी सम्प्रदाने—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

विप्राय गां ददाति—(ब्राह्मण को गाय देता है)—यहाँ विप्र के लिये गोदान किया जाता है अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और 'विप्र' से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अनभिहित इति—यहाँ भी 'अनभिहिते' २/३/१ सूत्र का प्रकरण है अत एव जहाँ सम्प्रदान अनुक्त होगा वही चतुर्थी विभक्ति होगी । 'दानीयो विप्रः' (दान योग्य विप्र है) यहाँ 'दा' धातु में सम्प्रदान (दीयतेऽस्मै) में अनीयर् प्रत्यय होकर 'दानीयः' शब्द बनता है

४०। रुच्यर्थानां प्रीयमाणः । १।४।३३॥

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात् । हरये रोचते भक्तिः । अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः । हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री । प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि ॥

४१। श्लाघन् इत्थाशपां जीप्स्यमानः । १।४।३४॥

अत एव सम्प्रदान उक्त हो गया, अनुक्त नहीं रहा । इसी से यहाँ 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा होती है ।

क्रियया इति (वा) — किसी क्रिया द्वारा कर्ता को जो अभिप्रेत होता है उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

पत्ये शेते — यहाँ शयन क्रिया का अभिप्रेत पति है । अतः उपर्युक्त नियम से पति की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति होती है ।

यजेः कर्मण इति (वा) — (यदि कर्म और सम्प्रदान एक वाक्य में हों) यज् धातु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो जाती है ।

पशुना रुद्रं यजते — इसका अर्थ है — पशुं रुद्राय ददाति । यहाँ 'पशु' कर्म है और 'रुद्र' सम्प्रदान है । उपर्युक्त नियम से कर्म (पशु) की करण संज्ञा होकर उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है तथा सम्प्रदान (रुद्र) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होती है ।

४०. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः — रुचि अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला (प्रीयमाण) सम्प्रदान संज्ञक होता है । 'रुच्' धातु के दो अर्थ हैं — दीप्ति और अभिप्रीति । यहाँ प्रीयमाण शब्द के साहचर्य से अभिप्रीति अर्थ लिया जाता है ।

हरये रोचते भक्तिः (हरि को भक्ति अच्छी लगती है) — यहाँ प्रसन्न होने वाला 'हरि' है । उपर्युक्त नियम से 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अन्यकर्तृक इति — रुचि और अभिलाषा के अर्थ में अन्तर है । अन्य के द्वारा उत्पन्न की हुई अभिलाषा को रुचि कहते हैं । उपर्युक्त उदाहरण में हरि में रहने वाली रुचि (प्रीति) को उत्पन्न करने वाली 'भक्ति' है । रुचि के इस विशेष अर्थ के कारण 'हरि भक्तिमभिलषति' आदि में सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती ।

प्रीयमाणः किमिति — जो प्रीयमाण अर्थात् प्रसन्न होने वाला है उसी की सम्प्रदान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि यहाँ प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाले) की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अन्य की नहीं, अतएव 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' (देवदत्त को मार्ग में मोदक अच्छा लगता है) यहाँ पथिन् शब्द की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह प्रीयमाण नहीं है ।

४१. श्लाघेति — श्लाघ् (स्तुति करना) हुङ् (छिपाना, दूर करना), ष्ठा (ठहरना), शप् (उलाहना देना) इन धातुओं के प्रयोग में, जिस पर कर्ता अपना भाव प्रकट करना चाहता है (जीप्स्यमानः - बोधयितुमिष्टः) उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते ह्लुते तिष्ठते शपते वा । जीप्यमानः किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

४२ । धारेरुत्तमर्णः । १।४।३६॥

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात् । भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ॥

४३ स्पृहेरीप्सितः । १।४।३६॥

गोपी स्मरान् कृष्णाय श्लाघते ह्लुते तिष्ठते, शपते वा—(गोपी) कामपीडा से आत्मप्रशंसा द्वारा कृष्ण पर विरह-वेदना प्रकट करती है (श्लाघते), सपत्नी को हटाकर अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है (ह्लुते), जाना चाहिये यह कहने पर भी ठहरते हुए अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है (तिष्ठते), उपालम्भ द्वारा कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है (शपते) । यहाँ सर्वत्र 'कृष्ण' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

जीप्यमानः किमिति—सूत्र में 'जीप्यमान' शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जिस पर कर्त्ता अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती । जैसे—'देवदत्ताय श्लाघते पथि' यहाँ 'पथि' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती ।

४२. धारेरुत्तमर्णः—धारि (णिजन्त धृ = ऋणी होना) धातु के योग में ऋण-दाता (उत्तमर्ण) की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (भगवान् भक्त के मोक्ष का ऋणी है)—यहाँ 'हरि' अधर्मण (ऋण लेने वाला) है उस पर भक्त का भक्ति रूपी ऋण है जिसका निष्क्रय मोक्ष द्वारा सम्भव है । भक्त उत्तमर्ण है । उपर्युक्त नियम से भक्त की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

उत्तमर्णः किमिति—यह सम्प्रदान संज्ञा उत्तमर्ण (ऋणदाता) की ही होती है अतः 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' यहाँ देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा होती है 'ग्राम की नहीं ।

४३. स्पृहेरीप्सितः—स्पृह (चाहना) धातु के योग में चाहा हुआ (ईप्सित) पदार्थ सम्प्रदान-संज्ञक होता है ।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति—(फूलों की चाह करता है)—यहाँ 'पुष्प' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है ।

ईप्सितः किमिति—ईप्सित शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि—स्पृह धातु के योग में भी चाहे हुए पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती ।

स्पृहयते: प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सित-
किम् ? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु पर-
त्वात् कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ॥

४४ । क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः । १।४।३७॥

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात् । हरये क्रुध्यति,
द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम् ? भार्यामीर्ष्यति मैनामन्यो-
ऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्याऽक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्क-
रणम् । द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति
कोप इति ।

ईप्सितमात्र इति—‘स्पृहेरीप्सितः’ १।४।३६ सूत्र से केवल चाहे हुए (ईप्सित-
मात्र) की सम्प्रदान संज्ञा होती है । जहाँ चाह का आधिक्य विवक्षित होता है अर्थात्
अत्यधिक चाहा हुआ (ईप्सिततम) कहना होता है वहाँ परे होने से (परत्वात्) कर्तुरी-
प्सिततमं कर्म १।४।४६ से कर्म संज्ञा ही होती है । ‘पुष्पाणि स्पृहयति’ में पुष्प में
ईप्सिततम की विवक्षा है । अतः इसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है ।

४४. क्रुधद्रुहेर्ष्येति—क्रुध् (क्रोध करना), द्रुह् (वैर करना), ईर्ष्य् (ईर्ष्या
करना), असूय (गुणों में दोष देखना)—इन धातुओं तथा इनके समान अर्थ वाली
धातुओं के प्रयोग में, जिसके ऊपर क्रोध आदि किया जाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा
हो जाती है ।

हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति असूयति वा (हरि पर क्रोध करता है, द्रोह
करता है, ईर्ष्या करता है या उसके दोष निकालता है) यहाँ हरि की उपर्युक्त नियम
से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

यं प्रति कोपः किमिति—जिसके प्रति कोप होता है उसकी ही सम्प्रदान संज्ञा
होती है । ‘भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति’ अर्थात् पत्नी को दूसरा देखे यह सहन
नहीं करता । यहाँ भार्या के प्रति कोप नहीं, किन्तु उसका दूसरों के द्वारा देखा जाना
असह्य है, अतः भार्या की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती किन्तु कर्म संज्ञा होकर द्वितीया
विभक्ति होती है ।

यद्यपि क्रोध, द्रोह आदि के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, क्रोध का अर्थ है—अमर्ष, द्रोह
का अर्थ है—अपकार करना, ईर्ष्या का अर्थ है—सहन न करना तथा गुणों में दोष
निकालना असूया है तथापि ‘यं प्रति कोपः’ (जिसके प्रति कोप हो) यह सामान्य रूप
से सभी का विशेषण है; क्योंकि कोप से पैदा होने वाले (कोपप्रभवाः) द्रोह आदि ही
यहाँ लिये जाते हैं । उन्हीं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है जैसा कि “भार्यामीर्ष्यति”
आदि उदाहरण से स्पष्ट है ।

४५ । क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म । १।४।३८॥

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । क्रूरमभिक्रुध्यति । अभिद्रुह्यति ॥

४६ । राघीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १।४।३९॥

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात् । यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते । कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा । पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः ॥

४७ । प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता । १।४।४०॥

आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्त्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा । विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः ॥

४८ । अनुप्रतिगुणश्च । १।४।४१॥

४५. क्रुधद्रुहोरिति—उपसर्ग पूर्वक (उपसृष्ट) क्रुध् तथा द्रुह धातु के योग में, जिसके प्रति कोप होता है उसकी कर्म संज्ञा होती है । यह नियम पहले नियम का अपवाद है ।

क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करता है, द्रोह करता है)—यहाँ पूर्व सूत्र (४४) से 'क्रूर' की सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उसे बाध कर उपर्युक्त नियम से 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है ।

४६. राघीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः—(राघ् धातु आराधना या साधना अर्थ में है और ईक्ष् देखने अर्थ में, किन्तु यहाँ इनका शुभाशुभ कथन अर्थ है) इन धातुओं के योग में जिसका विविध प्रश्न होता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा—इसका अर्थ है—पूछे जाने पर (गर्ग नाम का ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है । यहाँ कृष्ण की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उससे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

४७. प्रत्याङ्भ्याम् इति—प्रति और आ (आङ्) पूर्वक श्रु (सुनना) धातु के योग में पहले (प्रेरणा रूप) व्यापार के कर्त्ता अर्थात् प्रेरित करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

विप्राय गां प्रतिशृणोति—(आशृणोति वा)—इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ने—“भुञ्जे गाय दे दो” ऐसा कह कर किसी को प्रेरणा दी, तब उस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गाय देने का वचन दिया (प्रति और आ पूर्वक श्रु धातु का अर्थ है—प्रतिज्ञा करना, वचन देना) । इस प्रकार यहाँ प्रेरणा रूप पूर्व व्यापार के कर्त्ता 'विप्र' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो गई तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई ।

४८. अनुप्रतिगुणश्च—अनु और प्रति पूर्वक गृ (शब्दे) धातु के पूर्व व्यापार का कर्त्ता सम्प्रदान संज्ञक होता है ।

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनु-
गृणाति प्रतिगृणाति । होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ॥

४६ । परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् । १।४।४४॥

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्र-
दानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः ॥

* (वा) तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ॥

मुक्तये हरि भजति ।

* (वा) क्लृपि संपद्यमाने च ॥

भक्तिज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते, इत्यादि ॥

* (वा) उत्पातेन ज्ञापिते च ॥

होत्रेऽनुगृणाति (प्रतिगृणाति वा) — इसका अर्थ है — होता (चार यज्ञकर्ता या ऋत्विजों में से एक) पहले बोलता है उसे अध्वर्यु (अन्य यज्ञकर्ता) प्रोत्साहन देता है । यहाँ 'होतृ' बोलना (शंसति) रूप पूर्व व्यापार का कर्ता है अतः उपर्युक्त नियम से 'होतृ' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है — (होत्रे) ।

४६. परिक्रयणे इति — परिक्रयण का अर्थ है — नियत काल के लिये किसी को वेतन पर रखना । परिक्रयण में साधकतम कारक अर्थात् करण की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है ।

शतेन शताय वा परिक्रीतः — (सौ रुपये 'वेतन' से रक्खा हुआ) — यहाँ 'शत' परिक्रमण का साधन है उसकी उपर्युक्त नियम से विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । जब सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती तब करण में तृतीया विभक्ति हो जाती है ।

तादर्थ्यं इति (वा) — तादर्थ्य का अभिप्राय है — उसके लिये अर्थात् प्रयोजन । जिस (प्रयोजन) के लिये कोई कार्य या वस्तु होती है उस (प्रयोजन) से चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे —

मुक्तये हरि भजति — (मुक्ति के लिये हरि को भजता है) — यहाँ हरि के भजन का प्रयोजन मुक्ति है अतः उपर्युक्त नियम से 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार "कुण्डलाय हिरण्यम्" (कुण्डल बनाने के लिये सोना है) "काव्यं यशसे" (काव्य कीर्ति के लिये है) इत्यादि में कुण्डल तथा यशस् से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

क्लृपि इति (वा) — क्लृप् (समर्थ होना, पैदा होना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जो होने वाला (परिणाम) है उससे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

भक्तिज्ञानाय कल्पते (सम्पद्यते, जायते इत्यादि) — 'भक्ति ज्ञान के लिये होती है', यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान अर्थात् होने वाली वस्तु है । उपर्युक्त नियम से ज्ञान में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

उत्पातेन ज्ञापिते च (वा) — उत्पात का अर्थ है — अशुभसूचक अकस्मात् होने

वाताय कपिला विद्युत् ॥

*(वा) हितयोगे च ॥

ब्राह्मणाय हितम् ॥

५० । क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । २।३।१४॥

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहतुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयंभुवे नमस्कृत्येत्यादावपि ॥

वाला भौतिक विकार । उत्पात से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

वाताय कपिला विद्युत् (कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचक होती है) — यहाँ उपर्युक्त नियम से 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

हितयोगे च (वा) — हित के योग में, चतुर्थी विभक्ति होती है । जैसे "ब्राह्मणाय हितम्" ब्राह्मण के लिये हितकर । इसी प्रकार 'ब्राह्मणाय सुखम्' आदि ।

५०. क्रियार्थं इति — क्रियार्थोपपदस्य शब्द का अर्थ है — क्रियार्था क्रिया उपपदं* यस्य किसी क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया पास में सुनी जाती है, जिसके इस शब्द से 'तुमुन्' प्रत्यय लक्षित होता है, क्योंकि क्रियार्था क्रिया के साथ होने पर तुमुन् का विधान किया गया है — तुमुन्बुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०। 'स्थानिनः' का अर्थ है जिसका स्थान हो किन्तु प्रयोग न किया गया हो (अप्रयुज्यमानस्य) । इस प्रकार सूत्र का अर्थ है —

यदि तुमुन् प्रत्ययान्त धातु का अर्थ प्रकट हो, किन्तु उसका प्रयोग न किया गया हो तो उसके कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

फलेभ्यो याति — इसका अर्थ है 'फलानि आहतुं याति' (फल लेने के लिये जाता है) — यहाँ क्रियार्था क्रिया है — 'याति' (क्योंकि जाना क्रिया फल लाने के लिये है) । औहतुं (तुमुन्प्रत्ययान्त) का अर्थ प्रकट होता है; किन्तु उसका प्रयोग नहीं किया गया । उसका 'कर्म' है — फल । उपर्युक्त नियम से 'फल' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय — इसका अर्थ है 'नृसिंहम् अनुकूलयितुं नमस्कुर्मः' (नृसिंह को अनुकूल करने के लिये हम नमस्कार करते हैं) । यहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट होता है । 'अनुकूलयितुम्' का कर्म नृसिंह है । इसलिये 'नृसिंह' शब्द से उपर्युक्त नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'स्वयंभुवे नमस्कृत्य' (स्वयंभुवं प्रीणयितुं नमस्कृत्य = ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये नमस्कार करके) आदि में भी चतुर्थी विभक्ति होती है ।

*समीपे श्रूयमाणं पदम् उपपदम्, जो पद (शब्द) समीप में सुनाई देता है वह उपपद कहलाता है ।

५१ । तुमर्थाच्च भाववचनात् । २।३।१५॥

भाववचनाश्च ३।३।११। इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्तान्वचतुर्थी स्यात् ।
यागाय याति । यष्टुं यातीत्यर्थः ॥

५२ । नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषट् योगाच्च । २।३।१६॥

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । (प) उपपदविभक्तिः कारकविभक्ति-
बलीयसी ॥ नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः
स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त

५१. तुमर्थाच्चेति—भाववचनाश्च ३।३।११। इस सूत्र में कहा गया है कि
भाववाची घञ् आदि प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में भी होते हैं । उन घञ् प्रत्ययान्त आदि
शब्दों में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

यागाय याति—इसका अर्थ है—‘यष्टुं याति’ अर्थात् यज्ञ करने के लिये जाता
है । यहाँ ‘याग’ तुमुन् के अर्थ में भाववाची घञ् प्रत्ययान्त (यज् + घञ्) शब्द है ।
उपयुक्त नियम के अनुसार ‘याग’ से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

५२. नमः स्वस्ति इति—नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् शब्दों
के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । जैसे—‘हरये नमः’ (हरि के लिये नमस्कार) यहाँ
‘नमः’ शब्द के योग में ‘हरये’ में चतुर्थी विभक्ति है ।

उपपदविभक्तिरिति—उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है
अर्थात् उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति हो जाती है । दो निमित्तों से
विभक्ति का विधान किया गया है एक तो क्रिया के सम्बन्ध से, जिसे कारक विभक्ति
कहते हैं । वह कर्म आदि संज्ञा करके द्वितीया विभक्ति आदि के रूप में कही गई है ।
दूसरी है—उपपद विभक्ति, उपपद—समीप में स्थित पद । क्रिया से भिन्न अन्य शब्द
(पद) के निमित्त से होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है । उपपद के सम्बन्ध
से होने वाली विभक्ति की अपेक्षा क्रिया के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति बलवती
होती है, जैसे—‘नमस्करोति देवान्’ (देवों को नमस्कार करता है) यहाँ ‘नमः’ के योग
में ‘देव’ शब्द से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है यह उपपद विभक्ति है । किन्तु ‘नमस्क-
रोति’ यह क्रियापद हो जाने पर इसके सम्बन्ध में ‘देव’ कर्म हो जाता है और द्वितीया
विभक्ति प्राप्त होती है । यहाँ द्वितीया कारक विभक्ति है । अतएव चतुर्थी (उपपद
विभक्ति) को बाध कर द्वितीया विभक्ति होती है—(देवान्) ।

प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)—‘नमः स्वस्ति’ आदि नियम से
‘स्वस्ति’ के योग में ‘प्रजा’ शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये स्वाहा) । पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिये
अन्नादि) में भी चतुर्थी विभक्ति होती है ।

अलमिति—सूत्र में ‘अलम्’ शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले शब्द का
ग्रहण किया जाता है । इसके दो फल होते हैं—(१) निषेध अर्थ में जो ‘अलम्’ शब्द
है, उसके योग में चतुर्थी नहीं होती, जैसे—‘अलं विवादेन’ (२) पर्याप्त (समर्थ) अर्थ

देता है वह

इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठीयपि साधुः । तस्मै प्रभवति ५।१।१०१। स एषां ग्रामणीः ५।२।७८। इति निर्देशात् । तेन प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम् । वष-
डिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी'
ति २।३।७३ षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति ॥ स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

५३ । मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु । २।३।१७॥

वाले 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । जैसे—दैत्येभ्यो हरिःप्रभुः समर्थः, शक्तः ।

दैत्येभ्यो हरिरलम्—यहाँ पर्याप्त अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के योग में 'दैत्येभ्यः' में चतुर्थी होती है ।

प्रभ्वादियोग इति—प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी शुद्ध है । यद्यपि किसी सूत्र या वार्तिक से षष्ठी का विधान नहीं किया गया तथापि आचार्य पाणिनि के 'तस्मै प्रभवति' ५।१।१०१॥ प्रयोग से विदित होता है कि प्रभु आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । इसी प्रकार उनके 'स एषां ग्रामणीः' ५।२।७८॥ प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रभु आदि के योग में षष्ठी भी होती है । अतएव—प्रभुर्बु भूषुर्भुवनत्रयस्य' (१,४६) माघ कवि की इस उक्ति में 'भुवनत्रयस्य' में षष्ठी का प्रयोग भी व्याकरण-सम्मत ही है ।

वषट् + इन्द्राय (इन्द्र के लिए हविःदान)—यहाँ 'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'वषट्' के योग में इन्द्र शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

चकार इति—सूत्र (५२) में च (योगात् + च) फिर से चतुर्थी कहने के लिये है ।—

स्वस्ति गोभ्यो भूयात्—(गायों का कल्याण हो)—यहाँ नमः स्वस्ति० २।३।१६ आदि नियम से चतुर्थी प्राप्त होती है । चतुर्थी चाशिषि० १।३।७३ इस नियम से चतुर्थी और षष्ठी दोनों विकल्प से प्राप्त होती हैं । अष्टाध्यायी में 'चतुर्थी चाशिषि०' 'नमः स्वस्ति०' से परे (आगे) है और दो तुल्य नियमों के विरोध में परे वाला कार्य ही हुआ करता है (विप्रतिषेधे परं कार्यम्) अतः चतुर्थी और षष्ठी विकल्प से होनी चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं होता 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' प्रयोग में नित्य चतुर्थी विभक्ति ही होती है । इसका कारण यह है कि 'नमः स्वस्ति०' सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया गया है । यह बलपूर्वक पुनः चतुर्थी का विधान करता है इसलिये आशीर्वाद की विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि०' इस षष्ठी को बाधकर 'नमः स्वस्ति' से होने वाली चतुर्थी विभक्ति ही होती है ।

५३. मन्यकर्मणि इति—अनादर प्रकट करने में मन् (मानना, दिवादि) धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो तो, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया ही होती है ।

प्राणिवर्जं मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे । न त्वां तृणं मन्ये
तृणाय वा । श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न । त्वां तृणं मन्येऽहम् । अप्राणिष्वि-
त्यपनीय ॥

(वा) नौकाकान्नशुकशृगालवज्र्येष्विति वाच्यम् ॥

तेन न त्वां नावमन्नं वा मन्ये, इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न । न त्वां
शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव ॥

५४ । गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२॥

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा
गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हर्षि व्रजति । अनध्वनीति किम् ? पन्थानं
गच्छति ।

गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पत्थात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते
तदा चतुर्थी भवत्येव । उत्पथेन पथे गच्छति ॥ इति चतुर्थी ॥

न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा (मैं तुम्हें तिनके के तुल्य भी नहीं समझता—
यहाँ उपर्युक्त नियम से 'तृण' शब्द से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है । पक्ष में
कर्म में द्वितीया ही होती है ।

श्यनेति—श्यन् से निर्देश करने के कारण यहाँ दिवादि गण की मन् (मन्यते)
धातु लो जाती है, अतः तनादि गण की 'मन्' धातु के योग में यह चतुर्थी नहीं होती,
'न त्वां तृणं मन्येऽहम्' ।

अप्राणिषु० इति वा—वात्तिककार का कथन है कि सूत्र में से 'अप्राणिषु'
शब्द को हटाकर उसके स्थान में—नौ (नाव), काक (कौआ) अन्न, शुक (तोता)
शृगाल (सियार) को छोड़कर ऐसा कहना चाहिये । इसका फल होता है कि—

१ न त्वां नावं मन्ये (तुझे नाव नहीं समझता)—यहाँ अप्राणी (नाव) होने
के कारण सूत्र के अनुसार 'नौ' से चतुर्थी प्राप्त होती है किन्तु इष्ट नहीं है ।
वात्तिक में 'नौ' को व्रजित करने से चतुर्थी नहीं होती ।

२ न त्वां शुने मन्ये (तुझे कुत्ता भी नहीं समझता)—यहाँ श्वन् (कुत्ता)
प्राणी है अतएव सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं (अप्राणिषु; किन्तु चतुर्थी इष्ट
है । वात्तिक में 'श्वन्' को व्रजित नहीं किया गया अतः वात्तिक के अनुसार 'शुने'
में प्राणी होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

५४. 'गत्यर्थकर्मणि इति'—यदि वह (कर्म) मार्ग न हो और शरीर की गति
(चेष्टा) कही गई हो, तो गति अर्थ वाली धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी
विभक्ति होती है ।

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति (गाँव को जाता है)—यहाँ 'ग्राम' मार्ग नहीं है
और गाँव जाने में शरीर की चेष्टा करनी पड़ती है अतः उपर्युक्त नियम से 'ग्राम' या

५५ । ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ ॥

अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् ॥

५६ अपादाने पञ्चमी २।३।२८ ॥

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ।

‘ग्रामाय’ में विकल्प से द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति होती है ।

चेष्टायां किमिति—‘चेष्टा’ में यह क्यों कहा ? इसलिये कि जहाँ शारीरिक व्यापार नहीं करना पड़ता वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है, जैसे—‘मनसा हरिं व्रजति’ (मन से हरि के पास जाता है) । इसी प्रकार नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके’ इत्यादि (आप्टे ७१) ।

अनध्वनोति—यदि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन् (मार्ग) होता है तो कर्म में केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी नहीं । जैसे ‘पन्थानं गच्छति’ (मार्ग को जाता है) ।

गन्त्राधिष्ठित इति—यदि आने वाले (गन्तु) के द्वारा मार्ग अधिष्ठित (प्राप्त) होता है अर्थात् वह इष्ट मार्ग पर स्थित होता है तभी यह चतुर्थी विभक्ति नहीं होती; किन्तु जब उत्पथ (अनिष्ट मार्ग) से जाने में असमर्थ होकर वह उसे छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर जाता है तब मार्गवाची में भी चतुर्थी विभक्ति होती ही है । जैसे—‘उत्पथेन पथे गच्छति’ (उत्पथ से पथ को जाता है) भाव यह है कि—यदि कोई देहली के लिये चला; किन्तु भ्रम से देहली का मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर हो लिया, वही अन्य मार्ग उत्पथ कहलायेगा । उस मार्ग से जब अपने इष्ट देहली के मार्ग को प्राप्त करने के लिये चलेगा तो ‘उत्पथेन पथे गच्छति’ यह प्रयोग होगा । यहाँ ‘पथे’ में चतुर्थी विभक्ति होती ही है ॥ इति चतुर्थी ॥

पञ्चमी विभक्ति । ५५. ध्रुवमपायेऽपादानम्—अपाय का अर्थ है विश्लेष, अलग होना । किसी वस्तु या व्यक्ति के अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि (सीमा) रूप है वह अपादान कहलाता है ।

५३. अपादाने पञ्चमी—अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ग्रामाद् आयाति—(ग्राम से आता है)—कहाँ से आता है ? ग्राम से । यहाँ ग्राम अवधिरूप है अतः इसकी अपादान संज्ञा होकर इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

धावतोऽश्वात्पतति [दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है]—यहाँ यद्यपि घोड़ा स्थिर नहीं, दौड़ता हुआ है तथापि वह पतन क्रिया के प्रति अवधि है ही अतएव ‘अश्व’ की अपादान संज्ञा होकर इससे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

* (वा) जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ॥

पापाज्जुगुप्सते । विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ॥

५७ । भोत्रार्थानां भयहेतुः । १।४।२५॥

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादनं स्यात् । चौराद् बिभेति ।
चौरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा ॥

टिप्पणी—‘धावतोऽश्वात् पतति’ आदि प्रयोगों में अश्व आदि की अपादान संज्ञा होनी चाहिये इसलिये सूत्र के ‘ध्रुव’ शब्द का अर्थ ‘स्थिर’ नहीं अपितु ‘अवधि-भूत’ माना जाता है ।

कारकं किमिति—कारक अपादनसंज्ञक होता है ऐसा क्यों कहा गया ? इसलिये कि जो कारक नहीं होता, अर्थात् जिसका क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता, उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, जैसे ‘वृक्षस्य पर्णं पतति’ में ‘वृक्ष’ का पतन क्रिया से सम्बन्ध विवक्षित नहीं, अपितु ‘पर्ण’ से सम्बन्ध है । अतएव ग्रहणं वृक्ष की अपादान संज्ञा नहीं होती ।

जुगुप्सेति (वा)—जुगुप्सा (घृणा) विराम (हटना, अलग होना) प्रमाद (असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के विषय की अपादान संज्ञा नहीं होती ।

पापाद् जुगुप्सते (पाप से घृणा करता है)—यहाँ पाप जुगुप्सा का विषय है अतः उपर्युक्त नियम से इसकी अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार पापात् विरमति (पाप से बचता है) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) आदि ।

टिप्पणी—प्रमादार्थक के साथ सप्तमी भी आती है । जैसे—‘न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः’ (आप्टे ७६ टि०) ।

५७. भोत्रार्थानां भयहेतुः—‘भय’ अर्थ वाली तथा ‘रक्षा’ (त्राण) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु अपादान कहलाता है ।

चौराद् बिभेति (चोर से डरता है)—यहाँ चोर भय का हेतु है । उसकी उपर्युक्त नियम से अपादान संज्ञा होकर अपादान में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार ‘चौरात् त्रायते’ (चोर से रक्षा करता है) ।

भयहेतुः किमिति—भय के कारण की ही अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों कहा ? इसलिये कि ‘अरण्ये बिभेति’ में अरण्य (वन) की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि अरण्य भय का हेतु नहीं । यदि अरण्य को भय का हेतु माना जाये तो अरण्य से भी पञ्चमी विभक्ति हो ही सकती है ।

५८ । पराजेरसोढः । १।४।२६॥

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात्पराजयते । ग्लायती-
त्यर्थः । असोढः किम् ? शत्रून्पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ॥

५९ । वारणार्थानामीप्सितः । १।४।२७॥

प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽपादानं
स्यात् । यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे ॥

६० । अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति । १।४।२८॥

५८. पराजेरसोढः—परा (उपसर्ग) पूर्वक जि धातु के योग में असह्य वस्तु
की अपादान संज्ञा होती है ।

अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से हार मान रहा है)—जब किसी के लिये
अध्ययन असह्य या कष्टकर हो गया है तो उपर्युक्त नियम से पराजयते के योग में
अध्ययन की अपादान संज्ञा होती है और उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । इसका
भाव है—अध्ययन से थक गया है ।

असोढः किमिति—असह्य वस्तु की ही अपादान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों
कहा ? इसलिये कि 'शत्रून् पराजयते'—शत्रुओं को हराता है (अभिभवति=पराजित
करता है) यहाँ शत्रु की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह असह्य नहीं । 'शत्रून्'
में कर्म में द्वितीया हुई है ।

५९. वारणार्थानामीप्सितः—वारण का अर्थ है—प्रवृत्ति का विघात, किसी
कार्य में लगे हुए को रोकना । वारण अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में ईप्सित वस्तु
(जिससे हटाने की चाह होती है) अपादान संज्ञक होती है ।

यवेभ्यो गां वारयति (यवों से गाय को हटाता है)—'यव' से गाय को हटाना
चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'यव' की अपादान संज्ञा होती है और अपादान में
पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ईप्सितः किम्—जिससे किसी को दूर करना अभीष्ट होता है । वही अपादान
होता है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' में 'क्षेत्र' अभीष्ट
नहीं बल्कि यव हैं । अतः क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं होती ।

६०. 'अन्तर्धौ' इति—अन्तर्धि का अर्थ है, व्यवधान (ओट) । व्यवधान होने
पर जिससे अपना अदर्शन चाहता है अर्थात् जिससे अपने आपको छिपाना चाहता है,
उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

मातुर्निलीयते कृष्णः—(कृष्ण माता से छिपता है)—कृष्ण दीवार आदि का
व्यवधान करके माता से छिपना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'मातृ' की अपादान
संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अन्तर्धौ किमिति—अन्तर्धि शब्द रखने का क्या प्रयोजन है ? यह कि जहाँ

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात् । मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धौ किम् ? चौरान्न दिदृक्षते । इच्छतिग्रहणं किम् । अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् ॥

६१ । आख्यातोपयोगे । १।४।२६॥

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते । उपयोगे किम् । नटस्य गाथां शृणोति ॥

६२ । जनिकर्तुः प्रकृतिः । १।४।३०॥

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ॥

६३ । भुवः प्रभवः । १।४।३१॥

व्यवधान होने पर कोई अपने आप को छिपाना चाहता है वहीं यह अपादान संज्ञा होती है अतएव “चौरान् न दिदृक्षते” (चोर मुझे न देख लें इस विचार से चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ ‘चोर’ की अपादान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि यहाँ व्यवधान निमित्तक छिपने का भाव नहीं है ।

इच्छतिग्रहणं किमिति—सूत्र में ‘इच्छति’ (चाहता है) का ग्रहण क्यों किया ? इसलिये कि यदि किसी के छिपने की इच्छा है तो उसे देख लिया जाने पर भी अपादान संज्ञा हो ही जाती है । जैसे ‘देवदत्तात् यज्ञदत्तो निलीयते ।’—देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है ।

६१. आख्यातोपयोगे—यहाँ उपयोग शब्द का (रूढ़) अर्थ है—नियमपूर्वक विद्याग्रहण करना । नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण करने में अध्यापक या शिक्षक (आख्याता वक्ता) की अपादान संज्ञा होती है ।

उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है)—उपर्युक्त नियम से उपाध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

उपयोगे किमिति—जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा-ग्रहण की जाती है वहीं वक्ता की अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों ? इसलिये कि ‘नटस्य गाथां शृणोति’ नट की गाथा सुनता है । यहाँ ‘नटस्य’ में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती, क्योंकि यहाँ नियमपूर्वक शिक्षा-प्राप्ति नहीं है ।

६२. जनिकर्तुः प्रकृतिः—जनि का अर्थ है—जन्म उत्पत्ति । जनिकर्ता = उत्पन्न होने वाले (जायमान) का हेतु अपादान संज्ञक होता है ;

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते [ब्रह्मा से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं]—यहाँ प्रजायन्ते का कर्ता [उत्पन्न होने वाला] प्रजा है । इसका हेतु ‘ब्रह्म’ है; अतः उपर्युक्त नियम से ‘ब्रह्म’ की अपादान संज्ञा होकर उससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

६३. भुवः प्रभवः—‘भू’ शब्द का अर्थ है होना (भू का षष्ठी, एक० भुवः) ‘प्रभव’ का अर्थ है—प्रथम प्रकाश-स्थान । यहाँ पूर्व सूत्र से ‘कर्तुः’ पद की अनुवृत्ति होती है । भू के कर्ता के उत्पत्ति-स्थान की अपादान संज्ञा होती है ।

भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशत इत्यर्थः ।

*(वा) ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च ॥

प्रासादात् प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्नेति श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । गम्यमानापि क्रिया कारक-विभक्तीनां निमित्तम् । कस्मात्त्वं नद्याः ॥

*(वा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी ॥ *तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ ॥ कालात्सप्तमी च वक्तव्या ॥

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—इसका अर्थ है—हिमालय से गङ्गा निकलती है अथवा वहाँ प्रथम दिखलाई देती है । यहाँ उपर्युक्त नियम से 'हिमवत्' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ल्यब्लोप इति (वा)—ल्यप् प्रत्ययान्त के छिपे रहने पर (उसका अर्थ प्रकट होने पर) उसके कर्म तथा आधार में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

प्रासादात् प्रेक्षते—इसका अर्थ है—'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' (महल पर चढ़कर देखता है) । यहाँ 'आरुह्य' ल्यप् प्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं, उसका कर्म है—'प्रासाद' । उपर्युक्त नियम से 'प्रासाद' में पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—

आसनात् प्रेक्षते अर्थात् 'आसने उपविश्य प्रेक्षते' (आसन पर बैठकर देखता है) यहाँ आसन 'उपविश्य' का आधार है । इसमें पञ्चमी विभक्ति होती है ।

श्वशुराज्जिह्नेति—(श्वशुर से लज्जा करती है) अर्थात् श्वशुर जो देखकर लज्जित होती है यहाँ 'श्वशुर' ल्यप् प्रत्ययान्त (वीक्ष्य) का कर्म है ।

गम्यमाना इति—जिस क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता अपि तु प्रकरण आदि से जान ली जाती है, उसे 'गम्यमाना क्रिया' कहा गया है । ऐसी क्रिया भी कारक-विभक्ति का निमित्त होती है । जैसे—'कस्मात्=त्वम्?' (तुम कहाँ से आये?) 'नद्याः' (नदी से) यहाँ प्रकरण आदि से आना (आगमन) क्रिया का बोध होता है । उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'नद्याः' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

यतश्चेति (वा)—जिससे (आरम्भ करके) मार्ग या समय की गणना (माप) की जाती है उस स्थान या समय-वाची से पञ्चमी विभक्ति होती है । यहाँ निर्माण का अर्थ है—निर्माण, माप ।

तद्युक्तादिति (वा)—उस पञ्चम्यन्त से अन्वित दूरी या मार्गवाची शब्द में प्रथमा अथवा सप्तमी विभक्ति होती है ।

कालादिति (वा)—उस पञ्चम्यन्त से अन्वित कालवाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है ।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे ।

६४ । अन्यारादितर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥२॥३॥२६॥

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आराद्वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचियोगे तु न । तस्य परमाश्रितम् । ८११२ । इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि षष्ठ्यतसर्थ २॥३॥३०॥ इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्रहणम् । प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् । आच्

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से ग्राम एक योजन है) — यहाँ 'वन' से ग्राम की दूरी दिखाई गई है । 'यतश्च०' इत्यादि नियम के अनुसार 'वन' पञ्चमी विभक्ति में है । पञ्चम्यन्त से अन्वित मार्गवाची शब्द 'योजन' में प्रथमा या सप्तमी विभक्ति है ।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे — (कार्तिक की पूर्णिमा से अग्रहन की पूर्णिमा एक महीने में होती है) — यहाँ 'कार्तिकी' से 'आग्रहायणी' का अन्तर दिखाया गया है अतः कार्तिकी में पञ्चमी विभक्ति है और मास भर का अन्तर दिखलाया है अतः 'मास' से सप्तमी विभक्ति होती है ।

६४. अन्यारात् इति — अन्य, आरात् (दूर या समीप) इतर (अन्य), ऋते (विना), दिशावाची शब्द, 'अञ्चु, धातु से बना हुआ है उत्तरपद जिनमें ऐसे प्राक् प्रत्यक् आदि, शब्द; आच् (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' आदि शब्द तथा 'आहि' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणाहि' आदि शब्द इनके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अन्येति — सूत्र में 'अन्य' शब्द से 'भिन्न' अर्थ वाले सभी शब्दों (भिन्न, पर, इतर आदि) का ग्रहण होता है । 'इतर' शब्द भी अर्थार्थक है, इसका पृथक् ग्रहण दिग्दर्शन मात्र के लिये किया गया है । (अथवा अनावश्यक है) ।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न) — यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'कृष्ण' शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'आराद् वनात्' (वन के समीप अथवा वन से दूर) । ऋते 'कृष्णात्' (कृष्ण के विना) 'पूर्वो ग्रामात्' (ग्राम से पूर्व) ।

(१) दिशि दृष्ट इति — सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है दिशा में देखा गया शब्द, इसलिये जो शब्द दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश या काल में उसका प्रयोग किया गया है उसके साथ भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । जैसे —

चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः — में पूर्व शब्द का अर्थ है — पहले, अतः यह काल वाचक है । पर यह दिशा में देखा गया शब्द है इसलिये इसके साथ भी 'चैत्रात्' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

दक्षिणा ग्रामात् । आहि, दक्षिणाहि ग्रामात् ॥ अपादाने पञ्चमी २।३।२८। इति सूत्रे कार्तिक्या प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी । भवात्प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः । 'अपपरिबहिः—२।१।१२, इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी । ग्रामाद् बहिः ॥

(२) अवयवेति—अवयववाची पूर्व, पर आदि शब्दों के योग में पञ्चमी नहीं होती । आचार्य पाणिनि का तस्य परमात्रोद्धितम् ८।१।२। प्रयोग ही इसमें प्रमाण है । यहाँ 'तस्य परम्' में 'परं' के योग में पञ्चमी नहीं । फलतः 'पूर्व कायस्य' (शरीर का पूर्व भाग) में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती अपि तु सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती है ।

(३) अञ्चूत्तरपदस्येति—यद्यपि अञ्चूत्तरपद 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्द दिक् शब्द ही हैं, अतः दिक् शब्द से अञ्चूत्तरपद का भी ग्रहण हो जाता है तथापि सूत्र में उनका पृथक् ग्रहण षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३० सूत्र (७८) से प्राप्त होने वाली षष्ठी का बाध करने के लिये किया गया है । इसका फल यह होता है कि प्राक्, प्रत्यक् आदि के योग में पञ्चमी विभक्ति ही होती है षष्ठी नहीं, जैसे—प्राक्, प्रत्यग् वा ग्रामात् ।

टिप्पणी—यहाँ प्राक्, प्रत्यक् आदि शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय (१।३।२७) होता है और उसका लुक् (अञ्चेर्लुक् १।३।३०) हो जाता है । 'अस्ताति' प्रत्यय अतसर्थक है (देखिये सू० ७८) ।

दक्षिणा ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण दिशा में)—यह आच् प्रत्यय का उदाहरण है । दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होकर दक्षिण + आ—दक्षिणा अव्यय शब्द बनता है । इसके योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

दक्षिणाहि ग्रामात्—(ग्राम से दूर दक्षिण दिशा में)—यह 'आहि' प्रत्यय का उदाहरण है । दक्षिण शब्द से 'आहि' (आहि च दूरे) प्रत्यय होकर 'दक्षिणाहि' शब्द बनता है । इसके योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अपादान इति—अपादाने पञ्चमी २।३।२८ इस सूत्र पर 'कार्तिक्याः प्रभृति' इस भाष्य के प्रयोग से सूचित होता है कि प्रभृति अर्थ वाले शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः [जन्म से लेकर (आमरण) हरि की भक्ति करनी चाहिये]—यहाँ प्रभृति के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है । यद्यपि किसी नियम से यह कही नहीं गई किन्तु 'अपादाने पञ्चमी २।३।२८' इस सूत्र के भाष्य में 'कार्तिक्याः प्रभृति' यह प्रयोग किया गया है, इससे यह बात सूचित होती है कि प्रभृत्यर्थक शब्दों के योग में पञ्चमी होती है ।

अपपरीति—अपपरि० २।१।१२ इस सूत्र के द्वारा 'बहिः' का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है, इस ज्ञापन से बहिर् के योग में पञ्चमी होती है ।

६५ । अपपरी वर्जने । १।४।८८॥

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः ।

६६ । आङ् मर्यादावचने । १।४।८९॥

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि ।

६७ । पञ्चम्यपाङ्परिभिः । २।३।१०॥

एतौः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अप हरेः, परि हरेः संसारः ।
परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरि परि । आमुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

ग्रामाद् बहिः (ग्राम के बाहर) — यहाँ 'बहिः' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । यद्यपि किसी सूत्र आदि से 'बहिः' शब्द के साथ पञ्चमी विभक्ति का विधान नहीं किया गया तथापि अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२ इस सूत्र में 'बहिः' शब्द का पञ्चम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है । उससे ज्ञात होता है कि 'बहिः' के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है । यदि इसके साथ पञ्चमी विभक्ति न होगी तो पञ्चम्यन्त से समास कैसे होगा ।

६५. अपपरी वर्जने — वर्जन अर्थ को द्योतित करने में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

६६. आङ्मर्यादावचने — मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । 'आङ्मर्यादायाम्' ऐसा कहने से ही ऊपर लिखा अर्थ निकल आता फिर 'वचन' शब्द अधिक दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि 'अभिनिधि' में भी 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा इष्ट है । मर्यादा का अर्थ है — उसके विना (तेन विनेति मर्यादा) । अभिविधि का अर्थ है उसके सहित (तेन सहेत्यभिविधिः) ।

६७. पञ्चम्यपाङ्परिभिः — अप, आङ्, परि इन कर्मप्रवचनीय संज्ञकों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

आप हरेः, परि हरेः संसारः — (भगवान् को छोड़कर जन्म मरण रूप संसार चक्र है) यहाँ 'अप' तथा 'परि' वर्जन अर्थ में है अतः इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा उपर्युक्त नियम से इनके योग में 'हरेः' में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

लक्षणादाविति — जहाँ 'परि' शब्द लक्षण, इत्थंभूताख्यान आदि अर्थ में होगा वहाँ तो इसकी 'लक्षणेत्थंभूताख्यान० (२१) आदि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (१७) इससे द्वितीया ही होगी । जैसे — हरि परि ।

आमुक्तेः संसारः — (मुक्ति तक अथवा मुक्ति से पहले संसार है) — यहाँ 'आ' मर्यादा अर्थ में है । मुक्ति होने पर जन्ममरण रूपी संसरण नहीं रहता अतः मुक्ति मर्यादा है । इस 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'मुक्ति' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

६८ । प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः । १।४।६२॥

एतयोरर्थयोः प्रतिरुवतसंज्ञः स्यात् ।

६९ । प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् । २।३।११

अत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः
प्रतियच्छति माषान् ।

७० । अकर्तृयूणे पञ्चमी । २।३।२४॥

कर्तृवर्जितं यदणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः । अकर्तरि
किम् ? शतेन बन्धितः ॥

आ सकलाद् ब्रह्म—(सकल पर्यन्त या सबको व्याप्त करके ब्रह्म है)—यहाँ
आङ् अभिविधि अर्थ में है क्योंकि सकलवस्तु में ही ब्रह्म है । इस आङ् की कर्मप्रवच-
नीय संज्ञा होकर इसके योग में उपर्युक्त नियम से 'सकलाद्' में पञ्चमी विभक्ति
होती है ।

६८. प्रतिरिति—प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय
संज्ञा होती है ।

६९. प्रतिनिधिति—जिसकी ओर से कोई प्रतिनिधि होता है अथवा जिससे
कोई वस्तु बदली जाती है उससे कर्मप्रवचनीय (उपर्युक्त 'प्रति') के योग में पञ्चमी
विभक्ति होती है ।

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति—(प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)—यहाँ 'प्रति' प्रति-
निधित्व को प्रकट करता है अतः इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और 'प्रति-
निधि० ६९' आदि नियम से इसके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिलों से उड़दों को बदलता है)—यहाँ तिलों
से उड़द बदले जाते हैं इस प्रतिदान को प्रति शब्द द्योतित करता है अतः प्रति की
कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में 'तिलेभ्यः' शब्द में पञ्चमी विभक्ति
होती है ।

७०. अकर्तृयूणे, इति—कर्ता से भिन्न जो ऋण (किसी का) हेतु हो, उससे
पञ्चमी विभक्ति होती है ।

शताद् बद्धः—इसका अर्थ है—सौ (रुपये आदि) का ऋण न लौटाने के
कारण बंध गया । यहाँ 'शत' (ऋण) बन्धन का हेतु है अतः उपर्युक्त नियम से इससे
पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

अकर्तरि किमिति—अकर्तरि शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि ऋण
अर्थ में विद्यमान जिस शब्द की 'कर्ता' संज्ञा हो जाती है चाहे वह हेतु भी हो तो भी
उसके योग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती । जैसे—'शतेन बन्धितः'; इसका अर्थ
है—“सौ रुपये ने ऋणदाता से कर्जदार को बंधवा दिया” शतेन बन्धितः अधर्मणः

७१। विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । २। ३। २५॥

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् ॥ जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः ।
गुणे किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या मुक्तः । विभाषेति योग-
विभागाद् गुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ॥

उत्तमर्णेन इत्यर्थः । 'बन्धितः' शब्द निजन्त (प्रेरणार्थक) बन्ध् धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर बना है 'अधमर्ण उत्तमर्णेन बद्धः' "कर्जदार को ऋणदाता ने बाँधा" यह साधारण दशा (अणिजन्त) का रूप होगा । 'शत' बाँधने की प्रेरणा देता है । यह प्रयोजक कर्ता है और हेतु भी (तत्प्रयोजको हेतुश्च) । यहाँ शत की कर्तृसंज्ञा हो जाने के कारण इससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती ।

७१. विभाषेति—जो गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है और स्त्रीलिङ्ग नहीं है उससे विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है । पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है ।

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (जड़ता के कारण बंध गया)—यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है । यह गुणवाचक शब्द है और स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं । अतएव इससे पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है ।

गुणे किमिति—गुणवाचक शब्द से पञ्चमी होती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि जो शब्द गुणवाचक नहीं उससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती; अपितु हेतु में तृतीया विभक्ति ही होती है, जैसे—धनेन कुलम् (धन के कारण कुल) ।

अस्त्रियां किमिति—सूत्र में 'अस्त्रियाम्' शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जो शब्द गुणवाचक हो किन्तु स्त्रीलिङ्ग हो उससे पञ्चमी विभक्ति न होगी; अपितु हेतु में तृतीया विभक्ति होगी; जैसे—बुद्ध्या मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया) । यहाँ 'बुद्धि' से तृतीया विभक्ति होती है ।

विभाषा इति योगविभागाद् इति—'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इस सूत्र में विभाग करके 'विभाषा' एक सूत्र मान लेते हैं । उसमें ऊपर से 'हेतौ' और 'पञ्चमी' शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है तथा उसका अर्थ होता है—हेतु में विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है । इसका फल यह होता है—

(१) कहीं-कहीं गुणवाचक शब्द न होने पर भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है, जैसे—'धूमाद् अग्निमान्'—(धुआँ होने से अग्नि वाला है)—यहाँ 'धूम' गुणवाचक नहीं तथापि पञ्चमी विभक्ति होती है ।

(२) कहीं स्त्रीलिङ्ग शब्दों से भी हेतु में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है, जैसे—'नारित घटोऽनुपलब्धेः', (उपलब्धि न होने से घट नहीं है)—यहाँ "अनुपलब्धि" शब्द स्त्रीलिङ्ग है तथापि इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

७२ । पृथग्विनानानाभिरतृतीयाऽन्यतर स्याम् । २।३।३२॥

एभियोगे तृतीया स्यात्पञ्चमीद्वितीये च । अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्च-
यार्थम् पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तते । पृथग् रामेण रामात् रामं वा । एवं विना
नाना ।

७३ । करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य । २।३।३३॥

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः । स्तोकेन स्तोकाद्वा
मुक्तः । द्रव्ये तु—स्तोकेन विषेण हतः ।

* ७२. पृथग्विनेति—पृथक्, विना, नाना के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है और (पक्ष में) पञ्चमी तथा द्वितीया विभक्ति भी होती है ।

अन्यतरस्यामिति—सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' शब्द (जिसका अर्थ वा या 'विकल्प से' है)—पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति के समावेश के लिये है । पञ्चमी और द्वितीया दोनों की अनुवृत्ति आ रही है; पञ्चमी की मण्डूकालुति द्वारा अपादाने पञ्चमी २।३।२८ से और द्वितीया की पहले सूत्र 'एनपा द्वितीया २।३।३१' से ।

पृथग् रामेण, रामात् रामं वा (राम से अलग)—यहाँ पृथक् शब्द के योग में 'राम' शब्द से तृतीया अथवा पञ्चमी अथवा द्वितीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार—

रामात् रामेण, रामं वा विना जीवितुं नोत्सहे (राम के विना मैं जी नहीं सकता) 'नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा' (नारी के विना जीवन निष्फल है) आदि (आटे द्वारा उदाहृत) प्रयोगों में विना तथा नाना के योग में तृतीया, पञ्चमी अथवा द्वितीया विभक्ति होती है ।

७३. करणे चेति—स्तोक (तनिक), अल्प (थोड़ा), कृच्छ्र (कष्ट), कतिपय (कुछ) इन शब्दों का जब द्रव्य के लिये प्रयोग नहीं होता तो इनसे करण में तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति (विकल्प से) होती है । असत्त्ववचनस्य का अर्थ है—'अद्रव्यवाची का' अर्थात् जब इनका प्रयोग द्रव्य के समानाधिकरण रूप में नहीं होता ।

स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः—इसका अर्थ है—थोड़े से (प्रयास) से ही मुक्त हो गया । यहाँ 'स्तोक' शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नहीं, अतः उपर्युक्त नियम से इसमें तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति विकल्प से हो जाती है । इसी प्रकार 'अल्पेन अल्पाद् वा मुक्तः', 'कृच्छ्रेण कृच्छ्राद् वा मुक्तः', 'कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्तः' आदि प्रयोग होते हैं ।

द्रव्ये त्विति—जहाँ 'स्तोक' आदि शब्दों का द्रव्य के लिये प्रयोग किया जाता है अर्थात् ये किसी द्रव्यवाची शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं वहाँ इनमें

७४ । दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च । २।३।३५॥

एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पञ्चमीतृतीये । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्
ग्रामस्य दूरं-दूरात्-दूरेण वा । अन्तिकम् अन्तिकात्-अन्तिकेन वा । असत्त्ववच-
नस्येत्यनुवृत्तेर्नेह । अदूरः पन्थाः ॥ इति पञ्चमी ॥

७५ । षष्ठी शेषे । २।३।५०॥

केवल तृतीया विभक्ति ही होती है, पञ्चमी नहीं, जैसे—‘स्तोकेन विषेण हतः’ (थोड़े से विष से मारा गया) यहाँ ‘स्तोक’ शब्द ‘विष’ का विशेषण है । ‘विष’ वैशेषिक की परिभाषा के अनुसार द्रव्य है ।

७४. दूरान्तिकेति—दूर तथा समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया होती है और पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति भी । ये विभक्तियाँ केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं । इनका अन्य कोई अर्थ नहीं होता । यह नियम प्रथमा विभक्ति का अपवाद है ।

ग्रामस्य दूरम्, दूरात् दूरेण वा—(ग्राम से दूर)—यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार ‘दूर’, शब्द से द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार—‘ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा’ [ग्राम के निकट] में भी ।

असत्त्वेति—‘दूरान्तिकार्थेभ्यो’ सूत्र [७४] में भी असत्त्ववचनस्य [अद्रव्य-वाची] की अनुवृत्ति है जो दूर और अन्तिक अर्थ वाले शब्द ‘द्रव्य’ के विशेषण नहीं उनमें ही ऊपर का नियम लागू होता है । अतः “दूरः पन्थाः” में ‘दूर’ शब्द से प्रथमा विभक्ति ही होती है द्वितीया आदि नहीं । यहाँ ‘दूर’ शब्द ‘पन्थाः’ का विशेषण है और ‘पन्थाः’ द्रव्यवाची शब्द है । इति पञ्चमी ॥

षष्ठी विभक्ति । ७४. षष्ठी शेषे—शेष का अर्थ है—जो कहा जा चुका है उससे बचा हुआ [उक्तादन्यः शेषः] । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक और प्रातिपदिकार्थ का इससे पूर्व अष्टाध्यायी में वर्णन किया जा चुका है, अतएव उनसे बचा हुआ, जो स्व [अपनी वस्तु धन या व्यक्ति] तथा स्वामी आदि का सम्बन्ध है, वह शेष है । उस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

टिप्पणी—षष्ठी विभक्ति प्रायेण संज्ञा और सर्वनामों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करती है और यह ‘सम्बन्ध’ संस्कृत में ‘कारक’ नहीं माना जाता, यह पहले कहा जा चुका है । किन्तु जब षष्ठी विभक्ति कर्म आदि में होती है तो यह कारक-विभक्ति भी हुआ करती है ।

राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)—यहाँ राजा स्वामी है । उसका स्वामित्व पुरुष पर दिखलाया गया है, अतः पुरुष ‘स्व’ है । स्व तथा स्वामी का सम्बन्ध दिखलाने में जिसका (किसी पर) स्वामित्व दिखाया जाता है उससे षष्ठी विभक्ति हो जाती है, इसीलिये ‘राज्ञः’ में षष्ठी विभक्ति है ।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्-राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव, सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ॥

७६ । षष्ठी हेतुप्रयोगे । २।३।२६॥

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

कर्मादीनामपि, इति—जब कर्म आदि कारकों में केवल सम्बन्ध बतलाने की इच्छा होती है (कर्मत्वादि की विवक्षा नहीं होती) तो वहाँ (शेषे) षष्ठी विभक्ति ही होती है । जैसे—‘सतां गतम्,—यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है । “सत्पुरुषों का गमन” यह अर्थ होता है अतः सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में कर्ता सत् शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर ‘सताम्’ शब्द बनता है । इसी प्रकार—

सर्पिषो जानीते—इसका अर्थ है—“सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते” अर्थात् ‘घृत के द्वारा प्रवृत्त होता है’ । यहाँ ‘सर्पिस्’ (घृत) प्रवृत्ति का करण है । उसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

मातुः स्मरति—(माता को स्मरण करता है)—यहाँ ‘माता’ स्मरण का कर्म है । कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

एधोदकस्य उपस्कुरुते (काष्ठ जल को परिष्कृत करता है अथवा काष्ठ और जल को परिष्कृत करता है)—“एधः” शब्द अकारान्त पुं० है । अथवा ‘एधस्’ सकारान्त नपुं० । इसका अर्थ है काष्ठ । पहिले अर्थ में ‘एधः’ पृथक् शब्द है । यह कर्ता है । दक शब्द का अर्थ है—जल (उदक) यह कर्म है । कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है । दूसरे अर्थ में ‘एधाश्च उदकं चैषां समाहारः एधोदकम्’ यहाँ एध शब्द अकारान्त है । ‘एधोदक’ समस्त पद कर्म है । उसमें सम्बन्ध की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति होती है ।

भजे शम्भोश्चरणयोः (शम्भु के चरणों का भजन करता हूँ) यहाँ ‘चरण’ कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

फलानां तृप्तः (फलों से तृप्त हुआ)—यहाँ फल करण है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

७६. षष्ठी हेतुप्रयोगे इति—यदि हेतु शब्द का प्रयोग हो तथा कारणता प्रकट करनी हो तो (हेतु शब्द तथा कारणबोधक शब्द दोनों में) षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—

अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के लिये बसता है)—यहाँ रहने का प्रयोजन अन्न है । हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है । इसलिये ‘अन्न’ शब्द तथा हेतु शब्द दोनों से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

७७ । सर्वनाम्नस्तृतीया च । २।३।२७॥

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च ।
केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः ।

(वा) निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥

किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं
किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा-
द्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥

७८ । षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । २।३।३०॥

एतद्योगे षष्ठी स्यात् । 'दिवशब्द—६४' इति पञ्चम्या अपवादः ।
ग्रामस्य दक्षिणतः । पुरः पुरस्तात् । उपरि उपरिष्ठात् ।

७७. सर्वनाम्नस्तृतीया चेति—सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग होने पर
हेतु प्रकट करने के लिये (सर्वनाम और हेतु शब्द दोनों में) तृतीया तथा षष्ठी विभक्ति
होती है ।

केन हेतुना वसति—(किस लिये रहता है ?)—यहाँ हेतु शब्द का सर्वनाम के
साथ प्रयोग किया गया है तथा हेतु प्रकट करना है, अतएव उपर्युक्त नियम से 'केन
तथा हेतुना' दोनों में तृतीया विभक्ति होती है । पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है—
'कस्य हेतोः' ।

निमित्तेति (वा)—निमित्त शब्द के पर्यायवाची (कारण, प्रयोजन आदि) शब्दों
का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं । जैसे—

किं निमित्तं वसति (किस लिये रहता है)—यहाँ प्रथमा या द्वितीया
विभक्ति है ।

केन निमित्तेन (तृतीया) कस्मै निमित्ताय (चतुर्थी) । इसी प्रकार—कस्मात्
निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते इत्यादि तथा निमित्त के पर्यायवाची
के प्रयोग में "किं कारणम्" इत्यादि होते हैं ।

प्रायग्रहणाद् इति—वास्तिक में प्राय शब्द का ग्रहण किया है । इसका तात्पर्य
यह है कि जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता (असर्वनाम्नः) वहाँ प्रथमा तथा द्वितीया
विभक्ति नहीं होती, अन्य सब विभक्तियाँ होती हैं । जैसे—

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः [ज्ञान के लिये हरि की सेवा करनी चाहिये]—
यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपर्युक्त नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति
होती है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि में चतुर्थी इत्यादि हो जाती है ।
किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः यहाँ प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

७८. षष्ठ्यतसर्थ, इति—अतस् (अतमुच्) प्रत्यय तथा उसके अर्थ वाले प्रत्यय
लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति
होती है ।

७६ एनप द्वितीया २।३।३१॥

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि ।
दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

८० दूरान्तिकार्थः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । २।३।३४॥

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद्वा ॥

‘अन्यारात्० ६४’ २।३।२६। सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने से दक्षिणतः आदि के योग में पञ्चमी प्राप्त थी उसका यह सूत्र अपवाद है, अर्थात् उस पञ्चमी को बाधकर षष्ठी का विधान करता है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः—(ग्राम के दक्षिण की ओर)—यहाँ दक्षिणतः में अतमुच्, (दक्षिणोत्तराभ्यामतमुच् ५।३।२८) प्रत्यय है । यह प्रत्यय दिग्देशकालवाची शब्दों से स्वार्थ में कहा गया है । उपर्युक्त नियम के अनुसार दक्षिणतः के योग में ‘ग्राम’ शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—ग्रामस्य पुरः, यहाँ पुरः शब्द पूर्व शब्द से ‘असि’ प्रत्यय होकर बना है । पूर्व को पुर् आदेश होकर पुर् + अस् → पुरः हो जाता है । (पूर्वाधरावराणामसि पुरध्वश्चैषाम् ५।३।३६।) । असि प्रत्यय भी अतमुच् अर्थ में ही है । पुरस्तात् → पूर्व + अस्ताति * → पुर् + अस्तात् → पुरस्तात् । उपरि तथा उपरिष्ठात् दोनों शब्द अतसर्थ प्रत्यय के प्रकरण में ऊर्ध्व शब्द से रिल् तथा रिष्ठाति प्रत्यय और ऊर्ध्व को ‘उप’ आदेश] निपातन द्वारा बनाये गये हैं । इनके योग में षष्ठी विभक्ति होती है—“ग्रामस्य उपरि”, “ग्रामस्य उपरिष्ठात्” इत्यादि ।

७६. एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ ‘एनपा’ इतना सूत्र अलग मानकर उसमें षष्ठ्यतसर्थ० २।३।३०। से षष्ठी की अनुवृत्ति लाते हैं इस प्रकार ‘एनप्’ प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है ।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा [ग्राम के दक्षिण[—दक्षिणेन शब्द दक्षिण शब्द से एनप् प्रत्यय [एनबन्त्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ५।३।३५।] होकर बना है । इसके योग में उपर्युक्त नियम के अनुसार ‘ग्राम’ वा ‘ग्रामस्य’ में द्वितीया, या षष्ठी विभक्ति होती है ।

८०. दूरान्तिकार्थरिति—दूर और समीप [अन्ति] अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती है । जैसे—दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा [ग्राम से दूर या समीप] ।

* दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५।३।२७
उपर्युपरिष्ठात् ५।२।३१।

८१। ज्ञोऽविदर्थस्य करणे । २।३।५१ ॥

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ॥

८२। अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २।३।५२ ॥

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ॥

८३। कृजः प्रतियत्ने । २।३।५३ ॥

कृजः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने । एधोदकस्योपस्करणम् ॥

८४। रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः । २।३।५४ ॥

८१. ज्ञोऽविदर्थस्येति—अविदर्थस्य का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली । ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली जानाति [ज्ञा] के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

सर्पिषो ज्ञानम्—इसका अर्थ है—घृत सम्बन्धी [घृत द्वारा होने वाली] प्रवृत्ति । यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में है । 'सर्पिस्' [घृत] करण है । इसमें सम्बन्ध की विवक्षा में एष्ठी विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१ से लेकर व्यवहृणोः समर्थयोः २।३।५७ तक से सूत्रों में तथा कृत्वोर्ज्यप्रयोगे ० २।३।६४ इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवृत्ति आती है अतः 'पष्ठीशेषे' सूत्र से ही इनके विषय में पष्ठी विभक्ति सिद्ध है । इन सूत्रों से फिर षष्ठी का विधान इसलिये किया गया है कि "सर्पिषो ज्ञानम्" आदि में पष्ठी समाप्त न हो, जैसा कि कहा है—“प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते” ।

८२. अधीगर्थ इति—[अधि पूर्वक इ धातु (इक् स्मरणे) = अधीकृ, अधीगर्थ का अर्थ है—स्मरणार्थक] । स्मरणार्थक धातुएँ तथा दय (दानगतिरक्षणेषु) ईश् (ऐश्वर्ये) इनके कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

मातुः स्मरणम्—[माता को याद करना], सर्पिषो दयनम् [घृत का दान देना], सर्पिषो ईशनं [घृत का यथेष्ट प्रयोग] इनमें 'मातुः' तथा सर्पिषः में षष्ठी विभक्ति हो जाती है तथा यहाँ पष्ठी समास नहीं होता [देखिये ऊपर टिप्पणी] ।

८३. कृजः प्रतियत्न इति [प्रतियत्न का अर्थ है—गुणाधान अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना, जैसे—जल में उष्णता पैदा करना] । कृज् धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर गुणाधान अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है । जैसे—“एधोदकस्य उपस्करणम्” [देखिये ऊपर षष्ठी शेषे की व्याख्या] ।

८४. रुजार्थानाम् इति—ज्वरि धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है जबकि उनका कर्ता भाववाचक शब्द हो ।

भावकर्तृकाणां ज्वरिर्वर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् ।
चौरस्य रोगस्य रुजा ॥

(वा) अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम् ॥

रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा । रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादि-
कमित्यर्थः ॥

८५ । आशिषि नाथः । २।३।५५॥

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् ।
आशिषीति किम् ? माणवकनाथनम् तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः ॥

८६ । जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् । २।३।५६॥

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग द्वारा की हुई चौर की पीड़ा)—यहाँ भाववाचक
'रोग' शब्द रुजा अर्थात् पीड़ा का कर्त्ता है, चौर पीड़ा का कर्म है । उससे सम्बन्ध
मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

अज्वरि-इति (वा)—सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान पर "अज्वरिसन्ताप्योः" यह
करना चाहिये अर्थात् ज्वरि और सन्तापि धातु को छोड़कर । इसलिये—'रोगस्य चौर-
ज्वरः' अथवा 'चौरसन्तापः' यहाँ चौरस्य ज्वरः (चौरज्वरः) में इस नियम से षष्ठी
नहीं हुई, अपितु 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई तथा 'चौरज्वरः' में षष्ठी समास
हो गया । इस सूत्र से षष्ठी होने पर तो समास न होता । (देखिये पुष्ठ ५५,
टिप्पणी) । यहाँ भी अर्थ उसी प्रकार होता है—'रोग द्वारा किया हुआ चौर सम्बन्धी
ज्वर आदि' ।

८५. आशिषीति—आशीः अर्थ वाली नाथ् धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की
विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है । 'आशीः' का अर्थ है अभिलाषा ।

सर्पिषो नाथनम् (कर्मरूप घृत सम्बन्धी अभिलाषा)—यहाँ 'मेरे घृत होवे' यह
इच्छा है । 'सर्पिस्' नाथ् धातु का कर्म है । इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी
विभक्ति होती है । यहाँ भी समास नहीं होता ।

आशिषि किमिति—सूत्र में 'अशिषि' शब्द का क्या प्रयोजन है ? यह कि जब
नाथ् धातु "आशीः" अर्थ में होती है तभी उपर्युक्त नियम से षष्ठी होती है, अन्यथा
नहीं । जैसे—माणवकनाथनम् यहाँ पर यह षष्ठी नहीं होती । इसका अर्थ है—माणवक
सम्बन्धी याचना । यहाँ माणवक से कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में (षष्ठी शेषे)
षष्ठी विभक्ति होती है और षष्ठी समास हो ही जाता है ।

८६. जासीति—हिंसार्थक जासि (णिजन्त 'जसु ताडने' तथा "जसु हिंसायाम्")
नि तथा प्र पूर्वक हन्, नाट् (णिजन्त नट्) क्राथ् (णिजन्त क्रथ्) पिस् इन धातुओं के
कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

स्यात् ।

वरादि-

थनम् ।

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ
संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम् । प्रणिहननम् । निहननम् ।
प्रहणनं वा । नट अवस्कन्दने चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् ।
वृषलस्य पेणनम् । हिंसायां किम् । धानापेणनम् ॥

८७ । व्यवहृपणोः समर्थयोः । २।३।५७॥

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता ।
शतस्य व्यवहरणं पणनं वा समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः । गणनेत्यर्थः ।
ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः ।

वाचक

सम्बन्ध

यह

य चौर-

षष्ठी

समास

५५,

सम्बन्धी

त्र की

यह

षष्ठी

क जब

न्यथा

णवक

शेषे)

म्))

ओं के

चौरस्य उज्जासनम् (चौर सम्बन्धी हिंसा)—यहाँ चौर उज्जासन का कर्म है ।
इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर उपर्युक्त नियमानुसार षष्ठी विभक्ति होती है ।

निप्रौ, इति—नि और प्र उपसर्ग इसी क्रम से मिले हुए (निप्र) विपरीत क्रम
से मिले हुए (विपर्यस्तौ—प्रनि इति) तथा पृथक्-२ रूप में (व्यस्तौ) लिये जाते हैं;
अत एव “चौरस्य निप्रहणनम्”, “चौरस्य प्रणिहननम्” “चौरस्य निहननम्”, “चौरस्य
प्रहणनम्” सर्वत्र षष्ठी विभक्ति होती है ।

चौरस्य उन्नाटनम्—यहाँ “नट अवस्कन्दने” चुरादिगण की धातु ली जाती
है । अवस्कन्दन का अर्थ नाट्य है किन्तु उपसर्ग लगने से इसका अर्थ हिंसन हो जाता
है । इसी प्रकार चौरस्य क्राथनम्, वृषलस्य पेणनम् में भी षष्ठी होती है ।

हिंसायां किमिति—हिंसा अर्थ में ही यह षष्ठी होती है ऐसा क्यों कहा ?
इसलिये कि—

‘धानापेणनम्’ (धानानां पेणनम्) यहाँ कृदन्त के योग में ही (कर्तृकर्मणोः कृति
६२ अथवा षष्ठी शेषे ७५ से) षष्ठी होती है तथा यहाँ षष्ठी समास हो जाता है ।
जासि० ८६, इत्यादि सूत्र से जहाँ षष्ठी होती है वहाँ षष्ठी समास नहीं होता यह
कहा जा चुका है (देखिये ऊपर टिप्पणी) ।

८७. व्यवहृ इति—समान अर्थ वाली (वि + अव पूर्वक हृ हरणे तथा पण
व्यवहारे स्तुतौ च) धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति
होती है ।

द्यूत इति—जुआ खेलना और क्रय-विक्रय करना इन दो अर्थों में व्यवहृ तथा
पण धातु समान अर्थ वाली हैं ।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वा—[सौ का क्रय विक्रय या जुआ]—यहाँ ‘शतस्य
व्यवहरति’ इस अर्थ में ‘शत’ कर्म है इसमें सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी
विभक्ति होती है ।

समर्थयोः किमिति—सूत्र में समान अर्थ वाली [समर्थयोः] क्यों कहा ? इस-
लिये कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में, इस

८८ । दिवस्तदर्थस्य । २।३।५८॥

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात् । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति । स्तौतीत्यर्थः ॥

८९ । विभाषोपसर्गे । २।३।५९॥

पूर्वयोगापवादः शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ॥

९० । प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने । २।३।६१॥

देवतासंप्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणोः हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात्षष्ठी स्यात् । अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा ।

नियम से, षष्ठी नहीं होती । जैसे—शलाकाव्यवहारः यहाँ 'व्यवहार' का अर्थ गणना है । यहाँ 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हो जाता है । इस प्रकार 'ब्राह्मणपणनम्' अर्थात् 'ब्राह्मण की स्तुति' यहाँ भी ।

८८. दिव इति—[तदर्थस्य] अर्थात् द्यूत और क्रय विक्रय व्यवहार अर्थ में दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ।

शतस्य दीव्यति—[सौ को दाँव पर या व्यवहार में लगाता है]—यहाँ 'शत' दीव्यति का कर्म है । इसमें उपर्युक्त नियम से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

टिप्पणी—इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवृत्ति नहीं आती, अतः यह षष्ठीविधान समास की निवृत्ति के लिये नहीं है, इसी से 'दीव्यति' यह तिङन्त का प्रयोग दिया है पहले सूत्रों के समान कृदन्त का नहीं ।

तदर्थस्य किम् इति—द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार इन अर्थों में प्रयुक्त 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी होती है जहाँ इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ में दिव् धातु का प्रयोग होता है वहाँ कर्म में षष्ठी नहीं होती, अतएव 'ब्राह्मणं दीव्यति' में कर्म में द्वितीया ही होती है । यहाँ दीव्यति का अर्थ है—स्तुति करता है ।

८९. विभाषेति—उपसर्ग पूर्वक दिव् धातु के कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है । यह पहिले नियम का अपवाद है । जैसे—शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति—यहाँ षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है ।

९०. प्रेष्यब्रुवोरिति—[देवतासम्प्रदाने शब्द का अर्थ है—'देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन्' अर्थात् जहाँ देवता को उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है । प्रेष्य शब्द प्र पूर्वक इष् धातु (दिवादि) का लोट् लकार मध्यम पुरुष का एकवचन है । इसके साहचर्य से 'ब्रूज' धातु का भी लोट् मध्यमपुरुष का एकवचन ही लिया जाता है]—देवतासम्प्रदान अर्थ में विद्यमान प्रेष्य तथा (ब्रूहि) के कर्म हविः वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा—यहाँ हविः विशेष-वाचक वपा तथा मेदस् शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है और हविस् शब्द से भी ।

६१ । कृत्वोर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे । २।३।६४॥

कृत्वोर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वो-
ऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरहन्यध्ययनम् ॥

६२ । कर्तृकर्मणोः कृति । २।३।६५॥

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता
कृष्णः ॥

(वा) गुणकर्मणि वेष्ट्यते ॥

६१. कृत्वोऽर्थेति—कृत्व अर्थ वाले प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाचक अधिकरण
में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

क्रिया की आवृत्ति को प्रकट करने के लिये संख्या से कृत्वसुच् [कृत्वः] प्रत्यय
होता है—‘संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्’ । ५।४।१७।

पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् [दिन में पाँच बार भोजन]—यहाँ कालवाचक
‘अहन्’ शब्द वास्तव में अधिकरण है । उपर्युक्त नियम से कृत्वप्रत्ययान्त ‘पञ्चकृत्वः’
शब्द के योग में ‘अहन्’ शब्द से षष्ठी विभक्ति [अह्नः] हो गई है ।

द्विरह्नो भोजनम् [दिन में दो बार भोजन]—यहाँ द्वि शब्द से कृत्वसुच् प्रत्यय
के अर्थ में सुच् प्रत्यय हुआ है । इसके योग में ‘अहन्’ शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

शेषे किम् इति—सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी विभक्ति होती है अत-
एव ‘द्विः अहनि अध्ययनम्’ यहाँ अहनि में सप्तमी विभक्ति हुई है क्योंकि यहाँ अधि-
करण की विवक्षा है ।

६२. कर्तृकर्मणोः कृति—कृदन्त के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति
होती है ।

कृष्णस्य कृतिः [कृष्ण का कार्य]—यहाँ पर ‘कृति’ शब्द कृदन्त है । यह कृ
धातु से क्तिन् प्रत्यय जोड़ने से बना है । इसका कर्ता कृष्ण है । अतः कृदन्त शब्द
[कृति] के योग में कर्ता ‘कृष्ण’ शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ।

जगतः कर्ता कृष्णः [जगत् का कर्ता कृष्ण]—यहाँ पर कर्ता शब्द कृदन्त
है । यह ‘कृ’ धातु से तृच् प्रत्यय होकर बना है । इसका कर्म ‘जगत्’ है । उपर्युक्त
नियम के अनुसार जगत् शब्द से कृत्प्रत्ययान्त [कर्तृ] के योग में षष्ठी विभक्ति
होती है ।

गुणकर्मणीति [वा]—कृत्प्रत्ययान्त द्विकर्मक धातु के योग में गुण कर्म में
विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है । मुख्य कर्म में नित्य षष्ठी होती है; जैसे—

१. द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८।

नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा । कृति किम् ? तद्धिते मा भूत् । कृत-
पूर्वी कटम् ॥

६३ । उभयप्राप्तौ कर्मणि । २।३।६६॥

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां
दोहोऽगोपेन ॥

(वा) स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः ॥

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः ॥

नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा [स्रुघ्न नामक स्थान को घोड़ा ले जाने वाला]—नी धातु द्विकर्मक है । इसका मुख्य कर्म अश्व है और गौण कर्म [‘अकथितं च’ के अनुसार] स्रुघ्न है । उपर्युक्त वाक्तिक के अनुसार स्रुघ्न शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है पक्ष में द्वितीया ही होती है—स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा ।

कृति किम् इति—सूत्र में ‘कृति’ शब्द का ग्रहण क्यों किया ? इसलिये कि कृदन्त के प्रयोग में ही कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है, तद्धितान्त के प्रयोग में नहीं । इसका फल यह होता है कि “कृतपूर्वी कटम्” यहाँ कट शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं होती । ‘पूर्वं कृतमनेन’ इस अर्थ में ‘कृत + पूर्व’ शब्द से तद्धित इति [पूर्वादिनिः ५।२।८६। सपूर्वाच्च ५।२।८७।] प्रत्यय होकर कृतपूर्वी शब्द बनता है । फिर कर्म की अपेक्षा होने पर ‘कट’ शब्द का कर्म रूप में अन्वय होता है । ‘कट’ शब्द ‘कृत’ शब्द का कर्म है अतः षष्ठी प्राप्त होती है किन्तु ‘कृति’ ग्रहण से तद्धितमात्र भी अधिक हो जाने पर षष्ठी विभक्ति नहीं हो पाती ।

६३. उभयेति—जहाँ कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होती है वहाँ कर्म में होती है कर्ता में नहीं ।

आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (गोपाल से भिन्न व्यक्ति के द्वारा गोदोहन आश्चर्य की बात है)—यहाँ ‘दोहः’ कृदन्त है (दुह् + घञ्) इसके योग में अगोप कर्ता में तथा ‘गो कर्म’ में षष्ठी प्राप्त है । उपर्युक्त नियम से कर्म में ही षष्ठी होती है । कर्ता (अगोपेन) में नहीं ।

स्त्रीप्रत्यययोरिति (वा)—स्त्रीलिङ्ग में होने वाले कृत् प्रत्यय ‘अक’ (ण्वल् आदि) तथा ‘अ’ में यह नियम (उभयप्राप्तौ कर्मणि) नहीं लगता अर्थात् वहाँ कर्ता में भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है और साथ ही कर्म में भी ।

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः—‘यहाँ भेदिका’ शब्द भिद् धातु से ण्वल् प्रत्यय होकर (ण्वल् → वु = अक) तथा स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर बना है । बिभित्सा सन्नन्त भिद् धातु (बि + भिद् + स) से ‘अ’ प्रत्यय + टाप् प्रत्यय होकर बना

१. धात्वर्थनिर्देशे ण्वल् वक्तव्यः (वा० २२२५)

२. अ प्रत्ययात् ३।३।१००॥

* (व) शेषे विभाषा ॥

स्त्रीप्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिर्हरिहरिणा वा । केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा ॥

६४ । क्तस्य च वर्तमाने । २।३।६७॥

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । न लोका० २।३।६६। इति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥

६५ । अधिकरणवाचिनश्च । २।३।६८॥

है । इन दोनों के योग में उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्त्ता (रुद्रस्य) तथा कर्म (जगतः) दोनों में ही षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

शेषे विभाषेति (वा)—‘अक्’ ‘अ प्रत्यय से भिन्न स्त्रीलिङ्ग कृत् प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म में नित्य षष्ठी तथा कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, जैसे विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः (हरिणा वा) । यहाँ हरि कर्त्ता है । इससे कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष में तृतीया होती है ।

केचिद् इति—कुछ आचार्यों का मत है कि ‘शेषे विभाषा’ यह विकल्प अक्, अ से भिन्न स्त्री प्रत्ययों के प्रयोग में ही नहीं होता अपितु सामान्य रूप से (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के प्रयोग में होता है, अतएव ‘शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा’ यहाँ अनुशासन (त्युट् प्रत्यय, नपुं०) के योग में भी आचार्य शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है । ‘अनुशासन’ शब्द नपुंसक लिङ्ग है ।

६४. क्तस्य चेति—वर्तमान अर्थ में कहे ‘क्त’ प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१८८॥ से वर्तमान अर्थ में ‘क्त’ प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है । ‘न लोका० २।३।६६। सूत्र (६६) में क्त (निष्ठा) प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया जायेगा । उसका यह अपवाद है ।

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है और पूजा जाता है)—यहाँ मतः (मन् + क्त) बुद्धः (बुध् + क्त) और पूजितः (पूज् + क्त) तीनों शब्द वर्तमान में क्त प्रत्यय होकर बने हैं । इनके योग में उपर्युक्त नियम से ‘राज्ञाम्’ में षष्ठी विभक्ति होती है ।

६५. अधिकरणेति—अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

‘क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः’ ३।४।७६। इस सूत्र से अधिकरण में क्त प्रत्यय का विधान किया गया है उसी का यहाँ ग्रहण है । यह भी ‘न लोका० इस निषेध का अपवाद है ।

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं शयितं भुक्तं वा ॥

६६ । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । ३।३।६६॥

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः ।
उः—हरि दिदृक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा । उक—दैत्यान् घातुको हरिः ॥

* कमेरनिषेधः ॥

इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा—यहाँ 'आसित' इत्यादि में क्त प्रत्यय अधिकरण में हुआ है आस्यते अस्मिन् इति आसितम्, शेते अस्मिन् इति शयितम् । इनके योग में 'एषाम्' में षष्ठी विभक्ति होती है । यह कर्त्ता में षष्ठी है ।

६६. न लोकेति—ल + उ + उक यह पदच्छेद है । ल (ल के आदेश शतृ, शानच् आदि), उ, उक, कृदन्त अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा [क्त, क्तवतु,], खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तृन्—इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती । [यह नियम 'वर्तृ' कर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध करता है] ।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः [सृष्टि करता हुआ हरि]—यहाँ कुर्वन् शब्द शतृ प्रत्ययान्त है [कृ + शतृ → कुर्वन्] । तथा 'कुर्वाणः' शानच् प्रत्ययान्त है [कृ + शानच् → कुर्वाण] । शतृ और शानच् लट् लकार [ल] के आदेश हैं । ये कृतसंज्ञक भी हैं । इनके योग में 'वर्तृ' कर्मणोः कृति' ६२ से षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है । उपर्युक्त नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

हरि दिदृक्षुः [हरिदर्शन का इच्छुक]—यहाँ दिदृक्षु सन्नन्त दृश् धातु से 'उ' प्रत्यय होकर बना है । [दि + दृश् + स + उ], इसके योग में हरि में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया ही होती है ।

हरिम् अलङ्करिष्णुः—यहाँ अलं पूर्वक कृञ् धातु से इष्णुच् प्रत्यय [३।२।१३६] हुआ है [अलं + कृ + इष्णु] । सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त लिया जाता है इसलिये यहाँ भी षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है ।

दैत्यान् घातुको हरिः [दैत्यों के घातक हरि]—'घातुक' शब्द 'हन्' धातु से 'उकञ्' प्रत्यय होकर बना है । यह कृतप्रत्यय है । इसके योग में षष्ठी प्राप्त थी । इस नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया होती है ।

कमेरिति [वा]—'उक' प्रत्ययान्त 'कम' धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता अतएव 'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' यहाँ 'कामुक' [कृदन्त] के योग में लक्ष्मी शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

१. लटः शतृशानच्चावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४।

२. सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८

३. लषपतपदस्थाभूवृणहनकमगमशुभ्य उकञ् ३।२।१५४।

लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—जगत सृष्ट्वा । सुखं कर्तुम् ।
निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान् विष्णुः । खलर्थः—ईषत्करः
प्रपञ्चो हरिणा । तृन्निति प्रत्याहारः शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्यातृनो
नकारात् ।

जगत्सृष्ट्वा [जगत् को रचकर] यहाँ सृष्ट्वा शब्द—सृज् धातु से क्त्वा प्रत्यय
होकर बना है और क्त्वा प्रत्ययान्त^१ अव्यय होते हैं । न लोकाव्यय सूत्र १६ से कृदन्त
अव्यय के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है, अतएव यहाँ षष्ठी विभक्ति
न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'सुखं कर्तुम्' । कर्तुम् = कृ
+ तुमुन् और तुमुन्^२ प्रत्ययान्त भी अव्यय होते हैं ।

विष्णुना हता दैत्याः [विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गये] तथा दैत्यान् हतवान्
विष्णुः [विष्णु ने दैत्यों को मारा]—यहाँ 'हत' शब्द हन् धातु से क्त [हन् + क्त]
प्रत्यय होकर बना है और 'हतवान्' हन् धातु से क्तवतु [हन् + क्तवतु] । क्त क्तवतु की
की पाणिनिव्याकरण में निष्ठा^३ संज्ञा है । उपर्युक्त नियम से निष्ठा के योग में षष्ठी
का निषेध किया गया है । 'विष्णुना हताः दैत्याः' यहाँ क्त कर्म में हुआ है अतः कर्ता
अनुक्त है उसमें षष्ठी नहीं होती अपितु तृतीया विभक्ति होती है । 'दैत्यान् हतवान्
विष्णुः' यहाँ क्तवतु कर्ता में हुआ है । कर्म अनुक्त है । उस कर्म [दैत्य] में षष्ठी नहीं
होती अपितु द्वितीया विभक्ति होती है ।

ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा [हरि के लिये संसार-प्रपञ्च सरल कार्य है]—यहाँ
ईषत्कर = ईषत् + कृ + खल्^४ । खल् प्रत्यय कर्म में हुआ है । इसके योग में कर्ता [हरि]
में षष्ठी प्राप्त होती थी उसका 'न लोकाव्यय० १६' नियम से निषेध किया गया है
अतः कर्ता [हरिणा] में तृतीया विभक्ति होती है ।

तृन् इति—सूत्र में तृन् शब्द प्रत्याहार है । इसमें 'शतृशानचौ' ३।२।१३४।
के 'तृ' अक्षर से लेकर 'तृन्' ३।२।१३५। के नकार तक के प्रत्यय लिये जाते हैं इसके
अन्तर्गत शानन्, चानश्, शतृ तथा तृन्, प्रत्यय आते हैं । इन प्रत्ययों के योग में षष्ठी
विभक्ति नहीं होती, जैसे—सोमं पवमानः—सोम को पवित्र करता हुआ, (पवमानः =
पू + शानन्), आत्मानं मण्डयमानः—अपने आप को भूषित करता हुआ (मण्डि +
चानश्), वेदमधीयन्—वेद को पढ़ता हुआ (अधि + इ + शतृ), कर्त्ता लोकान्—संसार
को बनाने वाला (कृ + तृन्) यहाँ 'सोमम्', 'आत्मानम्', 'वेदम्' तथा 'लोकान्' सर्वत्र
षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१. क्त्वातोमुन्कमुनः १।१।४०।

२. कृन्मेजन्तः १।१।३६।

३. क्तवतु निष्ठा १।१।२६।

४. ईषदुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२

शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—आत्मानं मण्डयमानः । शतृ-वेदम-
धीयन् । तृन्---कर्त्ता लोकान् ।

*द्वि षः शतुर्वा

मुरस्य मुरं वा द्विषन् ॥ सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः ॥ शेषे षष्ठी
तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः ॥

६७ । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । २।३।७०॥

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् । सतः पाल-
कोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी ॥

टिप्पणी—तृन् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'लट्' के स्थान में होने वाले शतृ शानच्
नहीं लिये जाते 'अधीयन्' में दूसरा ही 'शतृ' प्रत्यय है ।

द्विषः इतिः (वा)—शतृ प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का
निषेध विकल्प से होता है, अतएव मुरस्य मुरं वा द्विषन् (मुर नामक राक्षस का
शत्रु)—यहाँ द्विषन् शब्द शतृ प्रत्ययान्त है । 'मुर' शब्द से विकल्प से षष्ठी तथा
द्वितीया विभक्ति होती है ।

सर्वोऽयम् इति—न लोकाव्यय ०६६। इस सूत्र से कारक षष्ठी (कर्तृ—
'कर्मणोः कृति ६०' आदि से प्राप्त) का ही निषेध होता है । शेषे षष्ठी (अर्थात् किसी
कारक में, सम्बन्ध मात्र की विवक्षा हो जाने पर) तो हो ही जाती है अतएव
'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' 'नरकस्य जिष्णुः' में षष्ठी विभक्ति हो जाती है ।

टिप्पणी—यह प्राचीनों का मत है उनके मत में यहाँ 'कारक षष्ठी' न होने
और शेषे षष्ठी हो जाने में शब्द-बोध का अन्तर है । नवीनों (नागेश भट्ट आदि) के
मत में तो यहाँ शेषे षष्ठी भी नहीं होती । (सि० कौ० टिप्पणी) ।

६७. अकेनोरिति—भविष्यत् अर्थ में कहे हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत्
और आधमर्ण्य [अधमर्ण (कर्जदार) का भाव आधमर्ण्य] अर्थ में, उक्त 'इन' प्रत्यय के
योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती । 'कर्तृकर्मणोः कृति' ६२ का अपवाद है ।

सतः पालकोऽवतरति (जो सज्जनों का पालन करेगा वह अवतरति होता
है,—यहाँ पालक शब्द भविष्यत् अर्थ में ण्वुल् (अक) प्रत्यय होकर बना है ।^१ इसके
योग में सत् शब्द से षष्ठी न होकर द्वितीया (सतः) ही होती है ।

व्रजं गामी (भविष्य में व्रज को जाने वाला)—'गामी' शब्द गम् धातु से
भविष्यत् काल में णिनि प्रत्यय (गम् + इन्) होकर बना है । इसके योग में षष्ठी
विभक्ति न होकर व्रज से द्वितीया विभक्ति ही होती है ।

१. इडधायोः शत्रुकृच्छ्रिणि । ३।२।१३०।

२. द्विषोऽमित्रे । ३।३।१३१।

३. तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०। देखिये कृदन्त प्रकरण ।

४. भविष्यति गम्यादयः । ३।३।३।

६८ । कृत्यानां कर्तरि वा । २३।७१॥

षष्ठी वा स्यात् । ।

मया मम वा सेव्यो हरिः ।

कर्तरीति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् । 'भव्य-गेय० ३।४।६८' इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते ॥ कृत्यानाम् ॥ उभय-प्राप्ताविति नेति चानुवर्तते । तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः ॥ कर्तरि वा उक्तोऽर्थः ॥

शतं दायी (सौ—रूपये— का देनदार)---'दायी' शब्द 'दा' धातु से आधमर्ण्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर बना है (दा + इन्) । 'इसके योग में 'शत' शब्द से षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

६८. कृत्यानाम् इति—कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है ।

कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा है । उनके योग में 'कर्तृ'कर्मणोः कृति ६२' से नित्य षष्ठी प्राप्त थी । यह सूत्र विकल्प से षष्ठी करता है ।

मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय है)---यहाँ 'सेव्य' शब्द सेव् (षेव् सेवायाम्) धातु से कर्म में ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय होकर बना है । कर्त्ता अनुक्त है । कर्त्ता में उपर्युक्त नियम से विकल्प से षष्ठी (मम) तथा पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है ।

कर्तरीति किम् इति—सूत्र में 'कर्तरि' (कर्त्ता में) शब्द का क्या प्रयोजन है ? कि कर्त्ता में प्राप्त होने वाली षष्ठी का ही विकल्प होता है अतएव जहाँ 'कृत्य' के योग में कर्म में षष्ठी प्राप्त है वहाँ इस नियम से विकल्प नहीं होता; जैसे—

'गेयो माणवकः साम्नाम्'—(माणवक साम का गायक है)---यहाँ 'गेय' शब्द 'गा' धातु से भव्यगेय० आदि सूत्र से कर्त्ता में 'यत्' प्रत्यय (कृत्य) होकर बना है । कर्म (सामन्) अनभिहित है अतः 'साम्नाम्' (सामन् प० बहु०) में नित्य ही षष्ठी विभक्ति होती है ।

अत्रेति—कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र में योग-विभाग किया जाता है । अर्थात् 'कृत्यानाम्' यह एक सूत्र माना जाता है जिसमें 'उभयप्राप्ती' और 'न' की अनुवृत्ति आती है तथा यह अर्थ होता है—'कृत्यों के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में प्राप्त होने वाली षष्ठी नहीं होती' जैसे—

'नेतव्या व्रजं गावःकृष्णेन'—(कृष्ण को गाय व्रज में ले जानी हैं)---यहाँ 'गावः' प्रधान कर्म है । 'तव्य' प्रत्यय प्रधान कर्म में ही हुआ है (प्रधाने नीहकृष्व-

१. आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः । ३।३।७०।

२. कृत्याः प्राङ् प्वुलः । ३।४।६५।

३. कर्तृकर्मणोः कृति । २।३।८५।

६६ । तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।७२॥

तुल्यार्थयोगे तृतीया वा स्यात्पक्षे षष्ठी । तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्यां किम् ? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।

१०० । चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः । २।३।७३॥

एतदर्थयोगे चतुर्थी वा स्यात्पक्षे षष्ठी आशिषि । आयुष्यं चिरं जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं भद्रं कुशलम् निरामयं सुखं शं अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात् ।

हाम्) । 'व्रज' गौण कर्म तथा कृष्ण कर्ता है । ये दोनों अनुक्त हैं । अतः दोनों में षष्ठी प्राप्त है । किन्तु इस नियम से 'व्रज' (कर्म) तथा 'कृष्णेन' (कर्ता) में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु क्रमशः द्वितीया और तृतीया विभक्तियाँ होती हैं ।

'कर्तरि वा' यह दूसरा सूत्र मानना चाहिये । इसमें 'कृत्यानां' की अनुवृत्ति करके सूत्र का ऊपर कहा हुआ (६८) अर्थ होता ।

६६ तुल्यार्थैरिति—तुला और 'उपमा' दो शब्दों को छोड़ कर शेष तुल्य अर्थ वाले शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है पक्ष में षष्ठी होती है ।

तुल्यः कृष्णस्य कृष्णेन वा (कृष्ण के समान)—यहाँ 'तुल्य' शब्द के साथ 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी अथवा तृतीया विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'सदृशः कृष्णस्य कृष्णेन वा' 'समः कृष्णस्य कृष्णेन वा' ।

अतुलोपमाभ्यां किम् इति—तुला और उपमा के योग में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है; जैसे 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।'

टिप्पणी—संस्कृत के उच्चकोटि के कदियों में तुला और उपमा के साथ भी तृतीया का प्रयोग किया है, जैसे—नभसा तुलां समारुरोह (रघु० ८-१५), 'स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना (शिणु० १-४) । (आष्टे ११७)

१०० चतुर्थीति—आशीर्वाद में—आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित इन अर्थ वाले शब्दों के साथ विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में षष्ठी होती है ।

आयुष्यं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्—(कृष्ण की दीर्घायु हो)—यहाँ 'आयुष्य' के योग में कृष्ण शब्द से चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—'चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्' तथा 'मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा कृष्णस्य कृष्णाय वा भूयात् ।'

आशिषि किम् इति—आशीर्वाद में चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति हो जाती है, ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि तथ्य-कथन में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे—देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति (देवदत्त की दीर्घायु है) ।

व्याख्यानात् इति—यद्यपि व्याकरण में शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण किया जाता है (स्व रूप शब्दस्याशब्दसंज्ञा) तथापि आचार्यों के व्याख्यान से यहाँ इन शब्दों के अर्थ वाले शब्द लिये जाते हैं । 'मद्र' और 'भद्र' (कल्याणवाची) शब्द समानार्थक हैं अतः इनमें से एक को सूत्र में न पढ़ना चाहिये अर्थात् एक निष्प्रयोजन है । इति षष्ठी विभक्तिः ।

अशिषि किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः । इति षष्ठी ॥

१०१ । आधारोऽधिकरणम् । १।४।४५॥

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः, कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ॥

१०२ । सप्तम्यधिकरणे च । २।३।३६॥

अधिकरणे सप्तमी स्यात् । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः ७४. इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः ॥

सप्तमी विभक्ति—

१०१ आधार इति—कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार अधिकरण कहलाता है ।

टिप्पणी—अधिकरण क्रिया का साक्षात् आधार नहीं होता किन्तु कर्ता और कर्म के द्वारा अर्थात् वह कर्ता और कर्म का आधार होता है और क्रिया कर्ता या कर्म में रहती है ।

१०२. सप्तमी इति—अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है ।

चकाराद् इति—सूत्र के 'च' शब्द से पहले सूत्र (दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।२५।) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' शब्द की अनुवृत्ति आती है तथा दूर और समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों में भी सप्तमी विभक्ति होती है ।

औपश्लेषिक इति—आधार तीन प्रकार का होता है—

(१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक तथा (३) अभिव्यापक ।

(१) औपश्लेषिक—उपश्लेष का अर्थ है संयोगादि सम्बन्ध । जहाँ कर्ता अथवा कर्म आधार में संयोग आदि सम्बन्ध से रहते हैं, वह आधार औपश्लेषिक है, जैसे—

कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है) —यहाँ बैठने वाले कर्ता का आधार (कट) के साथ संयोग सम्बन्ध है । 'कट' औपश्लेषिक आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

स्थाल्यां पचति—(देगची में पकाता है)—यहाँ 'स्थाली' पाकक्रिया के कर्म (तण्डुल आदि) का संयोग सम्बन्ध से आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

(२) वैषयिक आधार—विषयता सम्बन्ध से होने वाला आधार वैषयिक आधार कहलाता है अर्थात् उसके साथ कर्ता का बौद्धिक सम्बन्ध होता है; जैसे—

मोक्षे इच्छास्ति (मोक्ष में इच्छा है)—यहाँ कर्ता की मोक्ष के विषय में

* (वा) क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् ॥

अधीती व्याकरणे, अधीतमनेनेति विग्रहे इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८ इति कर्तरिनिः ॥

* (वा) साध्वसाधुप्रयोगे च ॥

साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले ।

* (वा) निमित्तात्कर्मयोगे ॥

इच्छा है । मोक्ष इच्छा का विषय है अतः यह वैषयिक आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर उसमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

(३) अभिव्यापक—वह आधार है, जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती हो; जैसे—

सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति (सब में आत्मा है)—आत्मा सब में व्यापक है अतः 'सर्व' अभिव्यापक आधार है । इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार "तिलेषु तैलम्" इत्यादि ।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट)—यहाँ दूर और अन्तिक में सप्तमी विभक्ति होती है । इस प्रकार दूरान्तिकार्थेभ्यः ७१, इस सूत्र से होने वाली तीन विभक्तियों (द्वितीया, पञ्चमी तथा तृतीया) सहित दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों में चार विभक्तियाँ (द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी) होती हैं ।

क्तस्येति (वा)—क्त प्रत्ययान्त शब्दों से इन् प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिये ।

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ)—यहाँ 'अधीती' शब्द 'अधीत' (अधि = इङ् + क्त) से कर्त्ता में 'इनि' प्रत्यय होकर बना है (अधीत + इन् --- अधीतिन् = अधीती प्र० एक०) । 'व्याकरणम् अधीतवान्' यह अर्थ होता है । यहाँ व्याकरण कर्म है और उपर्युक्त वाक्तिक के अनुसार कर्म में सप्तमी विभक्ति हो जाती है ।

साधु इति (वा)—साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छा है)—यहाँ साधु के योग में 'मातृ' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार 'असाधुः मातुले' (वह मामा के प्रति बुरा है)—यहाँ 'मातुले' में भी सप्तमी है ।

टिप्पणी—'साधुनिपुणाभ्याम् अर्चयाम्' २।३।४३ से पूजार्थ में ही साधु शब्द के साथ सप्तमी होती है, अतः श्रेष्ठ, हितकारी आदि अर्थों में इस सूत्र से सप्तमी कही गई है ।

निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ॥

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥१॥

(इति भाष्यम्)

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम् । सीमाऽण्डकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम् । वेतनेन धान्यं लुनाति ।

१०३ । यस्य च भावेन भावलक्षणम् । २।३।३७॥

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ॥

निमित्ताद् इति (वा)—इस वार्तिक में निमित्त का अर्थ है—फल । योग कहते हैं सम्बन्ध को, वह यहाँ संयोग या समवाय लिया जाता है । निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है यदि उस फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है)—यहाँ 'चर्म' [फल] के लिये व्याघ्र की हत्या की जाती है । चर्म द्वीपी, [व्याघ्र] रूप कर्म में समवेत है अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता है । अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'चर्मणि' में सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार—'दन्तयोः हन्ति कुञ्जरम्' [दाँतों के लिये हार्थ को मारता है]—यहाँ 'दन्तयोः' में, केशेषु चमरीं हन्ति' [केशों के लिये चमरी नामक मृगविशेष को मारता है]—यहाँ केशेषु में तथा 'सीम्नि पुष्कलको हतः' [सीमा=अण्डकोश कस्तूरी को कहते हैं । पुष्कलक नाम का एक मृगविशेष है जिसे गन्धमृग भी कहते हैं] यहाँ 'सीम्नि' में सप्तमी विभक्ति होती है । यहाँ भी दन्त, केश तथा सीमा का कर्म हस्ती, चमरी, पुष्कलक] के साथ समवाय सम्बन्ध है ।

हेताविति—यहाँ सभी प्रयोगों में 'हेतौ' इस सूत्र से हेतु में तृतीया विभक्ति प्राप्त हुई थी । उसके स्थान पर इस वार्तिक से सप्तमी कही गई है ।

योगविशेषे किमिति—जहाँ 'फल' का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध होता है वहीं उपर्युक्त नियम से फलवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि 'वेतनेन धान्यं लुनाति' वेतन के लिये धान्य काटता है ।—यहाँ 'वेतन' शब्द का 'धान्य' से संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं अतः यहाँ सप्तमी नहीं होती, अपितु 'हेतु' में तृतीया विभक्ति होती है ।

१०३. यस्य चेति—जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है । क्रिया किसी कर्त्ता या कर्म में रहती है अतः जिस कर्त्ता या कर्म में स्थित प्रसिद्ध क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस कर्त्ता या कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है ।

*** (वा) अर्हणां कर्तृत्वेऽनर्हणामकर्तृत्वे तद्विपरीत्ये च ॥**
 सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति ।
 सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ॥

टिप्पणी—इस नियम से होने वाली सप्तमी को 'सति सप्तमी' या भावे सप्तमी' (Locative absolute) कहते हैं ।

गोषु दुह्यमानासु गतः (जब गाएँ दुही जा रही थीं तब वह गया) यहाँ 'गायों' की दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है । यहाँ क्रिया कर्मस्थ है । कर्तृस्थ क्रिया का उदाहरण है—ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः ।

अर्हणाम् इति—जिस कार्य के लिये जो योग्य या उपयुक्त हैं, वे 'अर्ह' कहे जाते हैं तथा जो अयोग्य या अनुपयुक्त हैं वे 'अनर्ह' । योग्यों का कर्तृत्व प्रकट करने में तथा अयोग्यों का अकर्तृत्व प्रकट करने में और इसकी विपरीतता में सप्तमी विभक्ति होती है । इस वार्तिक के चार भाग हैं ।

(१) **अर्हणाम् कर्तृत्वे**—क्रिया में उचित व्यक्तियों के कर्तृत्व की विवक्षा होने पर उनमें सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे—'सत्सु तरत्सु असन्त आसते' (सज्जन तरते हैं और असज्जन बैठे हैं) यहाँ सत्पुरुषों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्त्ता हैं अतः 'सत्सु' में उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति होती है तथा 'सत्सु' के समान इसके विशेषण 'तरत्सु' में भी सप्तमी हो जाती है ।

(२) **अनर्हणाम् अकर्तृत्वे**—जिस क्रिया में जिनका कर्तृत्व अनुचित है उनके अकर्तृत्व को बतलाने के लिये उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' असज्जनों का तरना अनुचित है तथा 'तिष्ठत्सु' से तरण क्रिया में अकर्तृत्व का बोध होता है अतः 'असत्सु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है और उसके विशेषण 'तिष्ठत्सु' में भी ।

तद्विपरीत्ये च—और उसकी विपरीत दशा में; जैसे—

(३) जिनका करना उचित है उनके अकर्तृत्व को प्रकट करने में उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—'सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति'—सज्जनों का तरण उचित है किन्तु उनका न तरना (अकर्तृत्व) तिष्ठत्सु से प्रकट हो रहा है अतः 'सत्सु तिष्ठत्सु' यहाँ सप्तमी विभक्ति होती है ।

(४) जिनका करना उचित नहीं उनका करना (कर्तृत्व) बतलाने में उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे—'असत्सु तरत्सु सन्तस् तिष्ठन्ति' यहाँ असज्जनों का तरना अनुचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा है । अतः असत्सु तथा उसके विशेषण तरत्सु में सप्तमी विभक्ति होती है ।

टिप्पणी—कुछ आचार्यों का मत है कि इस वार्तिक के उदाहरणों में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से ही सप्तमी सिद्ध हो जाती है अतएव इसकी आवश्यकता

१०४ । षष्ठी चानादरे । २।३।३८॥

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्रावाजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ॥

१०५ । स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च । २।३।३९॥

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम् । गवां गोषु वा स्वामी । गवां गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः ॥

१०६ । आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् । २।३।४०॥

नहीं । किन्तु दूसरों का कथन है कि यहाँ एक की क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित नहीं होती; 'यदा सन्तस्तरन्ति तदा असन्त आसते' इस प्रकार का अर्थ उपर्युक्त उदाहरणों का नहीं होता अपितु 'सन्तस्तरन्ति, असन्त आसते' इत्यादि अर्थ ही होता है (दे० शारदारञ्जन, मित० पृ० १०३)

१०४. षष्ठीति—यदि अनादर भी प्रकट हो तो जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है उसमें षष्ठी या सप्तमी विभक्ति हो जाती है ।

रुदति रुदतो वा प्रावाजीत्—इसका अर्थ है—'रोते हुए पुत्र आदि की उपेक्षा करके संन्यास ग्रहण कर लिया' । यहाँ 'रुदन' क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित होती है । साथ ही 'रुदन' का तिरस्कार या उपेक्षा भी प्रकट हो रही है, अतएव 'रुदति' या 'रुदतः' में सप्तमी तथा षष्ठी विभक्ति होती है ।

१०५. स्वामीति—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू तथा प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । सम्बन्ध में केवल षष्ठी प्राप्त थी, पक्ष में सप्तमी के लिये यह सूत्र कहा गया है ।

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ उपर्युक्त नियम से 'स्वामी' शब्द के योग में 'गवाम्' तथा 'गोषु' में विकल्प से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है ।

गवां गोषु वा प्रसूतः—(गायों में उत्पन्न हुआ है)—इसका भाव है—गायों को प्राप्त करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है । यहाँ भी षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार पृथिव्याः पृथिव्यां वा ईश्वरः, 'ग्रामाणां ग्रामेषु वा अधिपतिः' 'पित्रंशस्य पित्रंशे वा दायादः' व्यवहारस्य व्यवहारे वा साक्षी 'दर्शनस्य दर्शने वा प्रतिभूः' ।

१०६. आयुक्तेति—तत्परता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्द के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । जैसे—'आयुक्तः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' आयुक्त का अर्थ है—लगाया हुआ । इसी प्रकार कुशली हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' ।

१. सि० कौ० तत्त्वबोधिनी ।

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्व्युक्तः इत्यर्थः ॥

१०७ । यतश्च निर्धारणम् । २।३।४१॥

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां नृषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा । गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः । छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः ॥

१०८ । पञ्चमी विभक्ते । २।३।४२॥

विभागो विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः ॥

आसेवायां किम् इति—जहाँ तत्पर । अर्थ होता है 'यहीं आयुक्त, कुशल के योग में षष्ठी, सप्तमी होती है, यह क्यों कहाँ ? इसलिये एक अन्य अर्थ में केवल सप्तमी होती है; जैसे—आयुक्तो गौ शकटे'—इसका अर्थ है—गाड़ी में बैल जोड़ा गया । यहाँ तत्परता का बोध नहीं होता ।

१०७. यतश्चेति—निर्धारण का अर्थ है—जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा आदि की विशेषता के कारण किसी वस्तु को अपने समुदाय से पृथक् करना । जिसमें से निर्धारण किया जाता है उससे षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है ।

नृणां, नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं)—यहाँ मनुष्य-समुदाय से जाति की विशेषता के कारण ब्राह्मण को विशिष्ट दिखाया गया है, वह मनुष्य-समुदाय का ही एक अङ्ग है । यही निर्धारण है, अतः समुदाय रूप 'नृ' शब्द से षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है ।

इसी प्रकार—गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा (गायों में कृष्णा बहुत दूध वाली होती है)—यहाँ गुण के द्वारा पृथक्करण है । 'गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः' (जंगलों में दौड़ता हुआ शीघ्र जाता है)—यहाँ क्रिया के द्वारा पृथक्करण है 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः' (छात्रों में मैत्र चतुर है)—यहाँ संज्ञा (मैत्र) के द्वारा पृथक्करण है । इन सभी उदाहरणों में अपने समुदाय में से एक भाग को विशिष्ट दिखलाया गया है ।

१०८. पञ्चमी इति—विभक्त का अर्थ है—विभाग या भेद । जहाँ विशिष्ट रूप में दिखलाई हुई वस्तु (निर्धार्यमाण) वस्तुतः भिन्न ही होती है वहाँ (जिससे भेद दिखलाया जाता है उसमें) पञ्चमी विभक्ति होती है ।

माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः (मथुरा-निवासी पाटलिपुत्र के लोगों से सम्पन्न हैं)—यहाँ माथुर (मथुरा के रहने वाले) पाटलिपुत्रकों (पटना के रहने वालों)

१०६ । साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः । २।३।४३॥

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे । मातरि साधुनिपु-
पुणो वा । अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् ।

* (वा) अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥

साधुनिपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा ॥

११० । प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च । २।३।४४॥

आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरो
वा ॥

१११ । नक्षत्रे च लुपि । २।३।४५॥

से भिन्न हैं । माथुरों में दूसरों की अपेक्षा सम्पन्नता दिखाई गई है । अतः 'पाटलिपुत्रक'
से पञ्चमी विभक्ति होती है ।

१०६. साधु इति—साधु और निपुण के योग में सप्तमी होती है पूजा अर्थ में,
किन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं होती ।

मातरि साधुनिपुणो वा—यहाँ 'साधु' और निपुण शब्द के योग में 'मातरि' में
सप्तमी विभक्ति होती है ।

अर्चायां, किम् इति—जहाँ पूजा या आदर का भाव नहीं होता वहाँ सम्बन्ध में
षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे—'निपुणो राज्ञो भृत्यः' (राजा का सेवक कुशल है) ।
यहाँ तथ्यकथन में तात्पर्य है, पूजा का भाव नहीं ।

टिप्पणी—अर्चा से भिन्न अर्थ में भी साधु शब्द के साथ 'साध्वसाधुप्रयोगे च'
(वा) से सप्तमी विभक्ति हो ही जाती है । यहाँ 'साधु' शब्द के ग्रहण का फल यह है
कि 'अर्चा अर्थ में प्रति' आदि के योग में साधु शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति नहीं
होती ।

अप्रत्यादीति (वा)—सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः' कहना चाहिये
अतः 'प्रति' 'परि' 'अनु' के प्रयोग में साधु और निपुण शब्द के साथ अर्चा अर्थ में भी
सप्तमी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया होती है (कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया);
जैसे—'साधुनिपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा' ।

११०. प्रसितेति—प्रसित और उत्सुक शब्द के योग में तृतीया विभक्ति होती
है और सप्तमी भी ।

प्रसितो हरिणा हरो वा (हरि में लवलीन) —हाँ 'प्रसित' शब्द के योग में
'हरिणा' में तृतीया तथा 'हरो' में सप्तमी विभक्ति होती है । इसी प्रकार "उत्सुको
हरिणा हरो वा ।"

१११. नक्षत्रे चेति—जहाँ नक्षत्रवाची शब्द लुप् संज्ञा से लुप्त प्रत्यय के अर्थ में

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमाना-
तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । मूले
श्रवणे इति वा । लुपि किम् ? पुण्ये शनिः ॥

११२ । सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ॥२॥३॥७॥

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानी ताभ्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे
द्व्यहाद्वा भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं
विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्या-
विध्येते । तदस्मिन्नधिकम् ५॥२॥४५॥ इति 'यस्मादधिकम् २॥३॥६॥ इति च सूत्र-
निर्देशात् । लोके लोकाद्वाधिको हरिः' ॥

वर्तमान होता है; अर्थात् जहाँ नक्षत्र वाची शब्द काल-विशेष को प्रकट करता है वहाँ
उससे अधिकरण में तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं ।

'मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् (मूले श्रवणे इति वा)'—यहाँ 'मूल'
शब्द मूलनक्षत्र से युक्त काल का बोधक है । नक्षत्रवाची मूल शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः
कालः' ४॥२॥३॥ इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ और 'लुपविशेषे ४॥२॥४॥' से उसका लुप् हो
गया है । इसी प्रकार 'श्रवण' शब्द है । ऊपर के नियम (१११) से इन दोनों में तृतीया
और सप्तमी विभक्ति होती है ।

लुपि किम् इति—जहाँ अण् प्रत्यय होकर उसका लुप् नहीं होता अर्थात् नक्षत्र-
वाची शब्द कालविशेष के लिये नहीं आता, अपने (नक्षत्र) अर्थ में ही रहता है वहाँ
अधिकरण में सप्तमी विभक्ति ही होती है तृतीया नहीं, जैसे 'पुण्ये शनिः' (पुण्यनक्षत्र
में शनि है) ।

११२. सप्तमीति—दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल और मार्ग हों
उनके वाचक शब्दों से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता—(आज खाकर यह दो दिन में
खायेगा)—यहाँ काल (द्व्यह) दो कर्तृ शक्तियों के बीच में है एक कर्तृ शक्ति का
आज (अद्य) के भोजन से सम्बन्ध है और दूसरी का दो दिन पश्चात् के भोजन से ।
इसलिये कालवाची शब्द 'द्व्यह' से सप्तमी या पञ्चमी विभक्ति होती है ।

इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (यहाँ स्थित होकर यह एक कोश
पर स्थित लक्ष्य को वेध देगा)—यहाँ कर्त्ता और कर्म कारक की दो शक्तियों ('अयं
तथा लक्ष्यं') के बीच में मार्ग (क्रोश) है अतः क्रोश शब्द से सप्तमी या पञ्चमी
विभक्ति होती है ।

अधिकशब्दनेति—आचार्य पाणिनि ने "तदस्मिन् अधिकम्०" ५॥२॥४५॥ 'इस
सूत्र में अधिक' के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है और "यस्मादधिकम्०"

११३ । अधिरीश्वरे । १।४।६७॥

स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधि कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ।

११४ । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी । २।३।६॥

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात् । उप परार्धे हरेर्गुणाः । परार्धा-
दधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पययिण सप्तमी । अधि भुवि रामः ।
अधि रामे भूः । सप्तमी शौण्डेरिति समासपक्षे तु रामाधीना । 'अषडक्ष-५।४।७'
इत्यादिना खः ॥

२।३।६ इस सूत्र में 'अधिक' के साथ पञ्चमी का प्रयोग किया है । इस निर्देश से
ज्ञात होता है कि अधिक शब्द के योग में सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ इष्ट
हैं । अतएव 'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः' (हरि लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं)—यहाँ
'लोके' 'लोकाद्' में सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति हैं ।

११३. अधिरीश्वर इति—स्व और स्वामी के सम्बन्ध को प्रकट करने में
'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

११४. यस्माद् इति—जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाये
उसमें कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

उप परार्धे हरेर्गुणाः—इसका अर्थ है—परार्ध से अधिक अर्थात् संख्यातीत
(असंख्य) । परार्ध सबसे बड़ी संख्या को कहते हैं । यहाँ 'उप' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है
(उपोऽधिके च १।४।८७) । 'परार्ध' से अधिक हरि के गुणों का कथन किया गया है
अतः 'उप' के योग में 'परार्ध' में सप्तमी विभक्ति होती है ।

ऐश्वर्ये त्विति—स्वामित्व को प्रकट करने के लिये तो स्व और स्वामी शब्दों
में पर्याय से सप्तमी होती है । जैसे—

अधि भुवि रामः—(राम भूमि के स्वामी हैं)—यहाँ 'स्व' वाची भूमि शब्द से
अधि कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

अधि रामे भूः (भूमि राम की स्व है)—यहाँ स्वामी वाचक 'राम' शब्द से
कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में सप्तमी विभक्ति होती है ।

सप्तमीति—'अधि रामे' इस विग्रह में "सप्तमी शौण्डैः" २।१।४० इस सूत्र
से समास होकर राम + अधि → रामाधि से 'ख' प्रत्यय हो जाता है 'ख' को 'ईन'
होकर रामाधि + ईन = रामाधीन । स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर "रामाधीना भूः" यह
प्रयोग होता है ।

१. अधि शब्द शौण्डादिगण में पढ़ा गया है ।

२. अषडक्षाशितङ्गबलंकर्मालिपुंरुषाध्युत्तरपदात्खः । ५।४।७

११५ । विभाषा कृत्रि । १।४।६८॥

अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे । यदत्र मामधिकरिष्यति ।
विनियोक्ष्यत इत्यर्थः । इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते । अगतित्वात् 'तिङि
चोदात्तवति-८।१।७१' इति निघातो न ॥ इति सप्तमी ॥

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

११५. विभाषेति—कृत्र् धातु परे होने पर 'अधि' की स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध
में विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

यदत्र मामधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा)—यहाँ 'अधिकरिष्यति'
का अर्थ है—विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा) । यहाँ विनियोक्ता का स्वामित्व प्रकट
होता है । इसी से 'अधि' को कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और 'गति' संज्ञा का
बाध हो जाता है । गति संज्ञा न होने से "तिङि चोदात्तवति" ८।१।७१ इस सूत्र से
'अधि' को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होता । 'माम्' में द्वितीया तो कर्म होने से ही
सिद्ध है । यह सूत्र अधि के निघात-निषेध के लिये है; इसका प्रयोजन स्वर प्रक्रिया में
है, कारक में नहीं ।

इति कारकप्रकरणम्

